श्रीमान् बा० दयारामजी जैन
(रिटायर्ड एस० डी० ओ०) सदर मेरठ।

जिनकी ओर से "संत सहजानन्द जी वर्णी महाराज" की जयंती के समारोहके अवसरपर आयोजित शास्त्रमाला अधिवेशनमें २०८० प्रति वितरित की गई हैं।

आत्म-कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशा वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूँ निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो पर कृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥५॥

(धर्म प्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियोंमें भारतमें अनेकों स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिये)

१—शास्त्रसभाके बाद या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोताओं द्वारा सामूहिक रूपमें।
२ जाप, सामायिक, प्रतिक्रमण, धार्मिक समारोह आदिक अवसरोंमें।
३—पाठशाला, कालेज, स्कूल, विद्यालय, शिक्षासदनके लगनेके समय छात्रोंद्वारा।
४—सूर्योदयसे पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला, पुरुषों द्वारा।
५—किसी अशान्तिके समय शान्त्यर्थ स्वरुच्यनुसार अर्थ, चौपाई या पूर्ण छन्दका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

आत्मकीर्तन प्रवचन

प्रवक्ता :—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५
क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज
(हूंस्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।)

आत्माकी खासियत जानने की आवश्यकता—

यह आत्मकीर्तन की टेक है, इसमें आत्माका कीर्तन किया गया है। कीर्तन कहते हैं स्तवनको, उसकी खासियत बतानेको। सर्वप्रथम यह निर्णय करिये कि आत्माकी खासियत जाननेकी जरूरत है क्या ? देखिये जगतके सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं। इन जीवोंका सिर्फ इतना प्रयोजन है कि हमको सुख मिले और दुःख न रहे। इसके अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन नहीं जितनेभी काम किए जाते हैं चाहे वे बड़े ऊंचे देशके कार्य हों, समाजके कार्यहों, किसीभी विषयके कार्यहों, उन सब कार्योंके किए जानेका मूल प्रयोजन है कि हमको सुख शान्ति मिले। उन कार्योंके करते हुए यदि सुख शान्ति नहीं मिल पायीतो वे उन कार्योंको न कर सकेंगे। अपनी शान्तिकी आशासे ही सारे कार्यकिए जाते हैं, तो इसमें तो संदेह नहींकि हमारा प्रयोजन शान्ति पाने का है, हम शान्ति कैसे पायें ? इसके लिए बहुत तरहके अब तक उद्यमकर डाले। सोचाकि इसमें शान्ति मिलेगी किन्तु मिल न सकी। बचपनमें किस-किस तरहके विचार किये और यत्न किये कि शान्ति मिल जाये, अपने समवयस्क बच्चोंमें खेले कूदे। जो मनमें इच्छा हुई उसकी पूर्तिके लिये हठकी, पर कभी पूर्तिभी हुई क्या ?

कार्यों से शान्ति न प्राप्त कर सके, केवल अपने विचार और विकल्प ही बनाते रहे। कर न सके कुछ तो अब यहां बड़ी गम्भीरतासे ध्यान करना है कि आखिर कौनसा कार्य ऐसा रह गया कि जिसके किये बिना अब तक अशान्त हो रहे ? शान्त तो अब तक हो न सके ? इसमें कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि अब भी क्षोभ मचाते हैं, विकल्प उठाते हैं। जिसके करते हैं, उन्हें भोगना पड़ता है। तो शान्त तो प्राप्त हुई नहीं और काम कर लिये अनेक। एक मनुष्य भवकी क्या बात, जब-जब भिन्न-भिन्न जन्मों में गए तब तब उन जन्मों के माफिक इतने अनेक कार्य किए कि शान्ति प्राप्त हो जाए। जैसे मनुष्य होकर यहां कार्यों से प्रेम किया। जैसे यहां मनुष्य अपने बसने के लिए घर बनाते हैं तो ये पशु-पक्षीभी अपनी योग्यताके माफिक कुछ स्थान और घोंसले आदिक बना लेते हैं। जैसे यहां मनुष्य अपनी सुख शान्ति के लिए आहार, निद्रा, मैथुन आदिक के प्रसंग करते, अनेक प्रकार के परिग्रह संचय करते तो ये पशु-पक्षी भी अपनी योग्यता माफिक इन्हीं क्रियाओं को करते हैं। तो मनुष्य, पशु-पक्षी आदिक सभी इन बाह्य क्रियाओं को खूब करते हैं पर न ये पशु-पक्षीही उन क्रियाओंसे शान्ति प्राप्त कर सके और न ये मनुष्य ही उन क्रियाओं से शान्त हो सके।

आत्म शान्तिके उपायका निर्णय—अब विचार कीजिये कि शान्ति पानेके लिए कौनसा काम शेष रह गया है जिससे शान्ति मिले? यह बात एक साधारण रूप से सुननेकी नहीं है, किन्तु अपने लिए अपना उत्तरदायित्व जानकर अपने भलेके लिए समझनेकी बात है। बात तो कठिन यों लगेगी कि इस बात को अभी तक कर नहीं सके, आज नहीं सके विषयवासनामें अनन्तकाल व्यतीत हो गया, तो उस शरणभूत तत्त्वकी चर्चा कठिन तो लगेगी ही।

का भेद और आत्माका ज्ञान किया जावत तो अवश्य शान्ति मिले तो। क्यों मिलेगी अवश्य शान्ति ? शान्ति चाहते हैं सभी, पर यह तो बतलाओ कि उस शान्तिका आधार कौन है ? यह शान्ति कहां मिली ? कहां बन रही है ? जैसे इन्द्रियके विषयोंके भोगनेमें कुछ शान्ति पाता तो यह बतलाओ कि यह शान्ति बन रही है ? यह शान्ति तो गुणमें ही बन रही है, इसका तो सर्वज्ञ भगवानको ज्ञान है कैसेही विषयोंका साधन मिलनेसे, अच्छी चीज देखनेसे, राग रागनीके शब्द सुनने से स्वादिष्ट भोजन करने से या अन्य कामोंसे शान्ति मिली मगर किस पुरुष को यह विश्वास नहीं है कि यह शान्ति कहां बन रही है, कहां गुजर रही है ? भले ही यह माने कि हमारी शान्ति विषयोंसे मिली, भोजनसे मिली पर यह शान्ति भोजनसे विषयोंसे बन रही है, ऐसा किसीको भी विश्वास नहीं है। सभी लोग यह अनुभव करते हैं, यह महसूस करते हैं कि शान्त तो हम हुये। कलीसा हेतकर लोग महसूस करते हैं शान्ति, तो कहां अनुभव करते हैं ? क्या पर्देपर ? अरे सभीको यह विश्वास है कि शान्ति मुझमें आयी। तो शान्ति जहां आयी उसका परिचय करनेकी इच्छा क्यों नहीं की जाती ? जहां शान्ति बनती है उसकी परख कर लेंय तो शान्ति अवश्य मिलेगी। इसीलिए शान्तिके आधारभूत अपने आपके स्वरूपका ज्ञान करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। भैया सच पूछो तो सच्ची बात करने योग्य बात यही है कि अपने आपके स्वरूपका ज्ञान करें। जब तक न आये सुबुद्धि तब तक भलेही यह बात न रुचे लेकिन जिन्हें इस ओर रुचि है कि हमको तो इतना काम करना है उन्हें अवश्य शान्ति मिलेगी। लेकिन इस एक कार्यमें लग लग कर भी शान्ति न मिलेगी। शान्तिका जो आधार है, उसकी परख होगी तब प्राप्त होगी।

आत्मस्वरूपानुभूतिसे ही मानव जीवनकी सफलता—यह [illegible] जीवन एक आत्मज्ञान करने और उसके अनुरूप आचरण [illegible] ही सफल हो सकता है अन्य बाहरी बातोंसे इस [illegible] सफलता नहीं है। मानलो खूब धन संचयकर लिया तो क्या उससे शान्ति मिलेगी ? उससे शान्ति न मिलेगी बल्कि आकुलतायें ही रहेंगी। धन का खूब संचय करके मर जानेके बाद क्या शान्ति पायी ? मर जानेके बाद फिर क्या पता वह कहां जन्म ले, उसपर क्या बीते उसके लिए तो फिर वह संचित किया हुआ धन कुछभी काम न आयगा। तो धन वैभवकी धुन में रहकर उसही की तृष्णा में रहकर सारा जीवन खोया तो यह मूढ़ता भरी बात है या नहीं सोचते जाइये। लोग प्रशंसा, कीर्तिकी बढ़वारीमें सुख मानते हैं पर उनके जीवनको देखलो कहां उन्हें शान्ति है ? वे तो बड़े बेचैन हैं। ऐसे लोग जो मानसिक विषयोंके लिये बहुत बढ़ना चाहते हैं (*मानसिक विषय है यश कीर्ति वगैरहकी चाह करना*) उन ही लोगोंके प्रायः हार्टफैल हुआ करते हैं। जो श्रम करने वाले और अपने थोड़े से परिग्रहमें सन्तुष्ट रहकर इतनाही उद्यम करके जीवन गुजारने वाले लोग हैं उनमें हार्टफैल होनेकी नौबत प्रायः नहीं आने पाती। तो कारण क्या है कि मानसिक विषयका संबंध है दिलसे। बड़ी कसरतकी जाती है यश और कीर्तिकी चाह व पुष्टि उत्पन्न करनेके लिए। दिलकी बड़ी तेज कसरतमें यह दिल फैल हो जाता है। तो वहां शान्तिकी बात मिलेगी सो बताओ ? दुनियामें किसी भी जगह शान्ति मिलने की आशा नहीं है। शान्ति के आधारभूत अपने आपके स्वरूपको समझनेके लिए कि मैं क्या हूं, उद्यम किया जाय तो शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

सम्यक्त्वकी प्राप्ति न होनेका कारण विषय वासनाका संस्कार—यद्यपि सभी लोग अपने आपके बारेमें कुछ न कुछ समझ ही रहे

है, यदि अपनी समझ न हो तब भी तो वहाँ सुख और दुःख हो ही नहीं सकते। सभी जीवोंको अपनी समझ है। चाहे वे पेड़ पौधे हों, अथवा कीड़ा मकोड़ा, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि हों, सभी अपने आपकी कुछ समझ बनाये हुए हैं, तभी तो वे सुखी अथवा दुःखी होते हैं और सभी वे कुछ न कुछ कार्य करनेका यत्न करते हैं। लेकिन वह समझ यदि गलत हो। माना तो अवश्य कि मैं हूं, पर मैं तो जिस रूपमें माना वह समझ यदि गलत हो तो उससे तो सुख शान्ति नहीं मिल सकती। तो अपने आपको समझना होगा कि मैं असल में हूं क्या? देखिये आत्माकी बात कही जा रही है, "मैं" की बात कही जा रही है। जिसमें लोग मैं मैं ऐसा ज्ञान किया करते हैं उस मैं की बात कही जा रही है। सुननेमें, समझनेमें अपनी बात कठिन तो न लगना चाहिये। कठिन तो परकी बात लगना चाहिये, खुदकी बात समझनेमें क्या कठिनाई? किन्तु जब चित्त कलुषित हो, विषय वासनामें फंसा हुआ हो तब उसके लिए अपनी बात, अपनी चर्चा, अपनी समझ कठिन हो जाया करती है। और कठिन क्या हो जाया करती है, प्रथम तो अपनी बात सुहाती ही नहीं है। मैं क्या सुनूं, यहां तो सिवाय आत्मा आत्माके अन्य कुछ नहीं है, चाहिये तो यहांका आराम यहां की सुख सुविधायें, यहांके वैभव, और चर्चाकी जा रही है आत्माकी, जिसको सुनकर कुछ मिलना भी नहीं है, भला दूकान पर बैठनेसे तो कुछ मिल भी जाता है, यों जब अपने आपकी बात सुननेकी रुचि ही नहीं है, विषयोंकी ओर उन्मुखता है, तो वहां अच्छी बात भी सुहानहीं सकती। और तिस पर भी कि उन वासनाओंमें हम दुःखी होते हैं, अपमान सहते हैं, विरोध होता है, व्यग्र रहते हैं, इतनेपर भी वे वासनायें ही सुहाती हैं, और जो सुख-का साधन है, परमात्मका स्वरूप है, अपने आपका जो अन्तः

बोली—अरे नींद कहांसे आये, यह गन्ध तो यहां सारी जगह छायी हुई है। तो फिर मालिनकी लड़की बोलीकि नींद आनेका कोई उपायभी है कि नहीं? तो वह ढीमरकी लड़की बोली—हां एक उपाय है, क्या? कि हमारा जो वह मछलियोंका टोकना रखा है उसपर पानीकी कुछ छींटें मारदो और फिर उसे हमारे सिरहने धरदो, तब नींद आयगी। उस मालीकी लड़कीने वैसाही किया तब ढीमरकी लड़कीको नींद आयी। तो प्रयोजन कहनेका यह है कि जो दुर्गन्धमें ही रातदिन बस रहे हों उन्हें फूलोंको सुगंध कहां से सुहावे। यों ही जो विषय-वासनाओंकी गंदगी अपने आपमें बसाकर रह रहे हैं उन्हें आत्माकी बात, परमात्माकी बात कहांसे रुचे?

लाभका सम्बन्ध—भला बतलाओ तो सही कि बाहर जहां कहींभी अपनी रुचि लगा रखी है वहांसे लाभकी बात क्या मिल रही है? सिवाय विडम्बनाओंके, विपदाओंके और कोई लाभ-दायक बात तो नहीं मिल रही। इस मानव-जीवनको पाकर अपना एक आग्रह बने कि हमें तो अपने सत्य स्वरूपका दर्शन करना है। मेरा जो सत्त्व है, मेरा जो यथार्थ स्वरूप है उसही को हमें समझ करना है। इस जीवनमें शान्ति प्राप्त करनेके लिए हम अनेक यत्न कर चुके, किन्तु अपने आपके सही स्वरूपका ज्ञान नहीं कर पाया। अब तो हमारे जीवनमें कोई दूसरा उद्देश्य है नहीं, एक यही मूल उद्देश्य है कि हम अपने आपके यथार्थ स्वरूपको समझें। मैं वस अपने आप अपनेही सत्त्वके कारण सहज किस स्वरूप हूं। इस निज स्वरूपकी परख होनेपर लोकमें किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं रह सकती। जब जान लिया मैं यह ही पूर्ण सर्वस्व हूं, इससे आगे मेरा वास्ता ही नहीं, फिर आकुलताका काम ही क्या रहा?

हूं में अनन्यत्व का निश्चय—आत्माको जाननेके लिए सबसे

है [illegible] है [illegible]
[illegible] करती है।

[illegible] एक [illegible]
[illegible] पर रहती थीं, एक थी धोबनकी लड़की और एक थी
मालिनकी लड़की। मालिनकी लड़की [illegible] और
धोबनकी लड़की [illegible]। वह धोबनकी
लड़की [illegible] आया करती थी। एक दिन
जब वह [illegible]
[illegible] पहले
वह [illegible]। तो मालिनकी लड़कीने अपनी बहन
[illegible] बड़ा आदर किया। खूब अच्छी
तरह खिलाया पिलाया। जब रात हुई तब रात को एक [illegible]
पलंग उसके सोनेके लिए सजाया। बड़ा कीमती गद्देदार पलंग
उस पर बिछी हुई चादर, और उस पर सुगन्धित फूलोंकी पंखुड़ियां
आदि पड़ी थीं। जब वह धोबनकी लड़की उस पलंग पर लेटी तो
वह इधर उधर करवट बदलती रही, नींद न आई। तो मालिनकी
लड़कीने पूछा क्या बात है सहेली। तो तुम्हें नींद नहीं आ रही
तो यह धोबनकी लड़की बोली —अरी बहिन न जाने तुमने इस
पलंग पर क्या डाल रखा है जिसकी दुर्गन्धसे वजहसे मुझे नींद
नहीं आ रही। मालिनकी की लड़की बोली—अरी बहिन! ऐसे
सुगन्धित पलंगपर सोनेके लिए तो राजा महाराजा भी तरसते हैं,
कहां है यहां दुर्गन्ध? तो वह बोली—अरे होंगे कोई राजा महा-
राजा यहां तो मारे गंधके हमारा दिमाग फटा जाता है। फिर
मालिनकी लड़कीने फूलों सहित चादरको हटा दिया। इतने पर
। उसे नींद न आये, इधर उधर करवटें बदले। तो मालिनकी
बोली—बहिन अब क्यों नींद नहीं आ रही? तो धोबनकी लड़की

बोली—अरे नींद कहांसे आवे, यह गन्ध भी यहां सारी जगह छायी हुई है। तो फिर मालिनकी लड़की बोलीकि नींद आनेका कोई उपायभी है कि नहीं? तो यह ढीमरकी लड़की बोली—हां एक उपाय है, क्या? कि हमारा जो यह मछलियोंका टोकना रखा है उसपर पानीकी कुछ छींटें मारदो और फिर उसे हमारे सिरहाने धरदो, तब नींद आयगी। उस मालीकी लड़कीने वैसाही किया तब ढीमरकी लड़कीको नींद आयी। तो प्रयोजन कहनेका यह है कि जो दुर्गन्धमें ही रातदिन बस रहे हों उन्हें फूलोंकी सुगंध कहां से सुहाये। यों ही जो विषय-वासनाओंकी गंदगी अपने आपमें बसाकर रह रहे हैं उन्हें आत्माकी बात, परमात्माकी बात कहांसे रुचे?

लाभका सम्बन्ध—भला बतलाओ तो सही कि बाहर जहां कहींभी अपनी रुचि लगा रखी है वहांसे लाभकी बात क्या मिल रही है? सिवाय विडम्बनाओंके, विपदाओंके और कोई लाभदायक बात तो नहीं मिल रही। इस मानव-जीवनको पाकर अपना एक आग्रह बने कि हमें तो अपने सत्य स्वरूपका दर्शन करना है। मेरा जो सत्त्व है, मेरा जो यथार्थ स्वरूप है उसही की हमें मालूम करना है। इस जीवनमें शान्ति प्राप्त करनेके लिए हम अनेक यत्न कर चुके, किन्तु अपने आपके सही स्वरूपका ज्ञान नहीं कर पाया। अब तो हमारे जीवनमें कोई दूसरा उद्देश्य है नहीं, एक यही मूल उद्देश्य है कि हम अपने आपके यथार्थ स्वरूपको समझलें। मैं स्वयं अपने आप अपनेही सत्त्वके कारण सहज किस स्वरूप हूं। इस निज स्वरूपकी परख होनेपर लोकमें किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं रह सकती। जब जान लिया मैं यह ही पूर्ण सर्वस्व हूं, इससे आगे मेरा वास्ता ही नहीं, फिर आकुलताका काम ही क्या रहा?

हृदयमें अन्तस्तत्त्वका निश्चय—आत्माको जाननेके लिए

मैं हूं, मैं हूं, ऐसा कहनेके साथही यह बोध हो जाता है। मैं मैं हूं, मैं अन्य नहीं हूं। जैसे कहा—घड़ी है तो हम अस्तित्वमुखेन घड़ी को सीधा जान रहे हैं, पर घड़ी है ऐसा कहनेमें यह बात गर्भित हो जाती है कि घड़ी घड़ी है, घड़ीको छोड़कर अन्य सब कुछ नहीं है। इन दो बातोंमें से याने विधि निषेधमें से यदि एक बात मानो और दूसरी बात न मानें तो दोनोंही बातें गलत हो जाती हैं। घड़ीके बारेमें माना कि यह तो "है" ही है। क्या है? घड़ी है? हां है, बेन्च है? हां है, सारी वस्तुवोंके नाम लेकर इसे "है" ही है कहा जाय घड़ीके बारेमें तो घड़ी एक चीज न रही। यह चीज घड़ीभी है, बेन्चभी है, चटाईभी है तो घड़ी कहां रही? और, यदि इसमें न न का ही हठ करते जायें, न बेन्च है, न चटाई है, न घड़ी है तो फिर घड़ी क्या चीज रही? किसी भी पदार्थके बारेमें उसका अस्तित्व तभी कायम रह सकता है जब वह अपने स्वरूपसे हो और परके स्वरूपसे न हो। यह बात वस्तुमें अपने आप धर्म पड़ा हुआ है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है, यह है दूसरी ख्यासियत। मैं हूं यह है पहिला गुण। मैं मैं हू। मैं अन्य नहीं हूं, मैं अपने स्वरूपसे हूं, परके स्वरूपसे नहीं हूं। यह है इसमें दूसरा गुण। जिसका नाम है वस्तुत्व। अब आगे चलिये, देखिये अभी जो दो गुण कहे गये हैं इतने मात्रसे वस्तुकी सत्ता नहीं रह सकती है। याने कोई पदार्थ "है" इतने मात्रसे वह पदार्थ रह नहीं सकता। उसकी कोई न कोई अवस्था हो, व्यक्त रूप हो, आकार प्रकार हो, परिणति हो तब उसका अस्तित्व रह सकता है। तो वस्तुमें ही स्वयं यह धर्म पड़ा है कि वह निरन्तर परिणमता रहता है।

आत्महितमें साधारण गुणोंके परिचय का महत्त्व—देखिये—ये सब अभी छेह साधारण गुण कहे जा रहे हैं। लेकिन ये साधारण

अपरिणामी है, तो अपरिणामी शुद्ध क्या होगा ? हउवा होगा। शुद्ध समझमें ही नहीं आता। हउवामें तो फिरभी कुछ रहा है। रात के समय उजेलेकी कोई छाया दिखाकर किसी बच्चेको यह कहकर डरा दिया कि देखो यह हउवा है। तो यहांभी कुछ बात मिली, किन्तु जहां व्यक्ति नहीं, प्रकटरूप नहीं, अवस्था नहीं, उसका अस्तित्व क्या ? ब्रह्म है। बात सही है, और उस ब्रह्मत्वके दर्शनसे ही जीव पार पा सकेगा। लेकिन वह ब्रह्मत्व क्या है, कहां है, कहां मिलता है, उसकी विधि तो मालूम होनी चाहिए। वह कोई एक अलग है, स्वतन्त्र है, फैला हुआ है ऐसा क्या एक ब्रह्म है। वह तो घट-घटमें है, प्रत्येक जीवमें है। जो भी जीव बाह्य विकल्पोंको हटाकर अपने आपमें विश्राम करके निर्विकल्प बने, किसीभी विकल्पमें उपयोग न फसाये केवल शुद्ध चित्प्रकाश मात्र ही उसके उपयोगमें रहे, और इससे आगे और भी निर्विकल्प बने, जिसके लिए कोई कहने वाला शब्द नहीं है। उस अनुभूतिकी स्थितिमें यह ब्रह्मत्वका साक्षात् अनुभव करता है। अनुभव करने के बाद यह ख्याल करेंगे कि ओह ! वह ब्रह्मत्व कहां था ? क्या मुझमें था ?.... नहीं। क्या बाहरमें था ?....नहीं। क्या सब एक था ?....नहीं। क्या कहीं न था ?....नहीं। जिसके बारेमें कोई एक आधारके ढंगसे उत्तर हो ही नहीं सकता। वह तो अनुभूतिमें था। न उसकी जगह बता सकते, न उसका आकार-प्रकार बता सकते, न उसका फैलाव बता सकते। उस अनुभव करने वालेकी जो दृष्टि है उतनीही तो उसकी दुनिया है, और उसमें वह पूरा व्यापक है। तो यों वह ब्रह्म व्यापक है। उस अनुभव करने वालेको न एकका पता रहा न अनेकका, ऐसा वह विलक्षण अद्वैत है। पर उसे अपरिणामी और [illegible] य बाहरमें रहने वाला न मान लिया जाय तो द्रव्यत्व [illegible] माने बिना, परिणमनशील माने बिना उसका अस्तित्व नहीं

कहा जा सकता।

हू के सहयोगी द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व—मैं हू, अपने स्वरूपसे हूं, परके स्वरूपसे नहीं हूं, और निरन्तर परिणमता रहता हूं। अच्छा बनूं, बुरा बनूं, विकल्प वाला बनूं, निर्विकल्प बनूं। होता रहता हूँ निरन्तर कुछ न कुछ। पर इस परिणमनमें स्वच्छन्दता नहीं है कि मैं जो चाहे परिणमता रहूं। जिस चाहेरूप बनता रहूं। यदि ऐसा करने लगूं तो मेरा अस्तित्व ही न रहेगा। मैं दूसरी वस्तुरूप परिणमने लगूं तो म ही तो वस्तु नहीं हू, कोई दूसरा मुझरूप परिणमने लगे तो फिर दुनियामें क्या रहेगा? इस कारण जो है उसमें यह भी गुण है कि अपनेमें ही परिणमे, दूसरेमें न परिणमे। इतनी सब बातें समझ लेने पर भी जब तक उसका ठौर ठिकाना, आकार-प्रकार ज्ञात न हो, तब तक ये बातें भी कुछ समझमें न आयेंगी।

हू के सहयोगी प्रदेशवत्त्व व प्रमेयत्त्व—किसी चीज का हम वर्णन करें और उसका आकार भी हमारी नजरमें न हो तो हम उस वर्णन का कुछ लाभ ही नहीं उठा सकते। और, वस्तुमें है यह सहज गुण कि वह किसी न किसी आकारमें रहता है। जो है वह कुछ तो होगा। कितना ही तो फैला हुआ होगा। चाहे एक प्रदेशी हो, चाहे नाना प्रदेशी हो, वह तो कुछ होगा ही। तो किसी न किसी आकारमें रहना, अपने आपके प्रदेश होना, यह उसमें गुण है। तो वस्तुमें यह ५वां गुण है कि वह प्रदेशवान हो। साथ ही जो वस्तु है उसमे यह गुण है कि वह ज्ञानमें आ सकता है। जो सत् है वह ज्ञानमे आया करता है। जो सत् नहीं है वह ज्ञानमें नहीं आता। तो मैं हू इतना कहतेही यह सारी की सारी अपनी आन्तरिक रचना ज्ञानीके ज्ञानमें आ जाती है।

हू के प्रवासमें अनेक गुणोंका वास—परिचित पुरुषों को ६०

को फहकर इतना बड़ा विस्तार बनानेकी जरूरत नहीं है। मैं एक हूं, इतना कहनेही वह सबका सब विस्तार विवरण गर्भित हो जाता है। मैं इस कारणतो मैं अपने स्वरूपसे हूं। परके स्वरूपसे नहीं हूं। अगर इन दो मे से एकभी बात न रहे तो मैं हूं रहही नहीं सकता। मैं हूं इसी कारणतो निरन्तर परिणमता रहता हूं। यदि मैं परिणमता न होजाता मैं हूं रहही न सकता। मैं हूं तभीतो *अपने स्वरूपमें परिणमता हूं, परके स्वरूपमें नहीं परिणमता,* इन दो बातोंमें से यदि एकभी बात खतम करदें तो मैं हूं रहही नहीं सकता। मैं हूं इसलिए कुछ न कुछ अपना घेरा जरूर रखता हूं। यदि कुछ घेरा न हो। कुछभी आकार न हो तो मैं हूं रहही नहीं सकता। मैं हूं, अतएव ज्ञेय हूं। ज्ञानमें आताही हूं। ज्ञानमें न आता होऊं तो मैं हूं रहही नहीं सकता। ज्ञानकी ऐसी अद्भुत शक्ति है कि जगतमें जो भी सत् हों वे सब ज्ञानमें आ जायें। हम सामनेकी चीज देखते हैं और जान लेते हैं, इससे कुछ ऐसा ख्याल बना लेतेकि सामनेही तब ज्ञानमें आता है। ज्ञानको जाननेके लिए सामने पदार्थके आनेकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल उसके सत्त्वकी आवश्यकता है। होना चाहिए सत्, तो वह ज्ञानमें आयगा। हम आपको जो ये स्थितियां बनी हैं कि सामने चीजही तबही ज्ञानमें आये और पीठ पीछे चीजहो तो वह ज्ञानमें न आये, यहतो हमारे ज्ञानकी एक कमजोरी है। पर ज्ञानका ऐसा स्वभाव नहीं है। ज्ञानका स्वभाव सर्वदेश सर्वकालके सर्वसतपदार्थोंको एकसाथ जानना। इस अमूर्त ज्ञानके लियेतो चारों ओर सामनाही सामना है। देशकृत सामना कहनेसे गुजारा न चलेगा। यह ज्ञानतो मूर्त[illegible] सबको जानना है। कालका सामना क्या? तो जैसे हम वर्तमानकालको अपना सामना कहते हैं ऐसेही ज्ञान ज्योतिके लिए अनादि अनन्तकाल साराका सारा सामना है। ज्ञानमें ऐसी

सिद्ध है कि जो भी सत् हो वह सब ज्ञानमें आवे। सो मैं हूं इस-प्रकार प्रमेय ज्ञेय हूं।

साधारण गुणोंके परिचयसे आत्महितका उपयोगी चिन्तन—अब इन ६ साधारण शक्तियोंकी निरखसे हम अपने आपमें कल्याणकी बात उत्पन्न करते हैं। यद्यपि अभी असाधारण गुणकी बात नहीं कही—मैं चेतन हूं, इसे अभी नहीं कहा, लेकिन असाधारण गुणके बिना वस्तु नहीं रहती, और सब साधारणका वर्णन करनेकी असाधारणको साथही साथ है। अपने आपके बारेमें इतना विश्वास बना लीजिये कि मैं हूं अपने स्वरूपसे हूं, परके स्वरूपसे नहीं हूं। जिसका अर्थ है कि मैं समस्त परद्रव्योंसे निराला हूं। त्रिकालभी मेरा किसी परद्रव्यके साथ सम्बंध नहीं है। मैं बनता हूं, अपनेमें बनता हूं, अपनेसे बनता हूं। इसका स्वात्मप्रदेशोंसे बाहर कुछ सम्बंध नहीं और ऐसेही सब जीव हैं, इस कारण मेरा किसीभी जीवसे कोई सम्बंध बनही नहीं सकता। कहां अनुभव करें इस मैं को? यह आधार अपने आपही है। यही है मेरा प्रदेश, यहीं है मेरा आकार, तन्मात्र हूं मैं। इससे बाहर अन्यत्र कहीं मैं नहीं हूं। इस तरह सबसे विभक्त और अपने आपके एकत्वमें रहने वाला यह मैं हूं। इस सदृश निर्णय करलेनेके बाद अब इस मैं हूं की अन्य विशेषतायें कही जायेंगी।

आत्माकी असाधारण गुणमयता—यह मैं आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व और प्रमेयत्व इन ६ साधारण गुणोंरूप हूं। किन्तु किसीभी पदार्थमें केवल साधारण गुणही रहें उससे अस्तित्व नहीं बनता। पदार्थकी स्पेसियल्टी, विशेषता असाधारण गुणपदार्थमें होनाही चाहिए और इस कारण पदार्थ साधारण असाधारण गुणमय है। न केवल साधारण गुणोंरूप पदार्थ होता है और न केवल असाधारण गुणोंरूप पदार्थ होता है।

जैसे—जीवमें असाधारण गुण है चेतन। चेतन तो हुआ करे, अतिरत्व न हो तो है ही क्या? वस्तुत्व न हो, जिसके चेतन अपने रूपसे तो है और अन्य अचेतन पदार्थों के नहीं है, वस्तुत्व न हो तो असाधारण गुण क्या करे? गुण न हो तो उसका कोई व्यक्तिरूपही नहीं हो सकता। तो प्रकार असाधारण गुण साधारण गुणोंसे सहित होकरही विलास कर पाते हैं और साधारण गुणभी असाधारण गुणसे होकर अपना विलास कर पाते हैं। यों आत्मा स... ...गु... है और असाधारण गुणरूप भी है। पदार्थों की सामान्य विशे... त्मकता निवारेभी नहीं निवारी जा सकती है। प्रमाणका विषयभ जो कुछभी हैं अर्थात् जोभी सत् हैं वे समस्त सत् सामान्य विशेष त्मक हैं।

सर्वसाधारण धर्मदृष्टिसे विश्वकी एकरूपता—सामान्य विशेष त्मकताका निरूपणभी दृष्टिकी भिन्नतासे भिन्न-भिन्न रूपभी हो जाता है। जैसे—अभी इस प्रसंगमें कि आत्मा साधारण गुणोंमय है और असाधारण गुणोंमय भी है, साधारण गुणरूपताको सामान्य है और असाधारण गुणरूपता विशेष है। यह आत्मा अस्तित्वादिक साधारण गुणोंमय है। इसमेंतो सामान्यका बोध होताकि हां है यह आत्मा। जैसेकि समस्त पदार्थ हैं वैसेही यह आत्मा है और इस दृष्टिसे सब पदार्थ एक हैं। सब सत् हैं और इसहीका एकात्म मत करके कहते हैं—सत् ब्रह्म। जो सत् है उसहीका नाम ब्रह्म है। समस्त पदार्थ ब्रह्मस्वरूप है यह कथन आता है। सामान्यरूपसे समस्त विश्वको सत् कहना यह कुछ अयुक्त बात नहीं है, लेकिन कोई एकान्त करने अर्थात् इस सत्स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ विशेषता नहीं है तब यह वस्तु स्वरूपके विरुद्ध होता है। यह दृष्टिसे अगर निहारा जावतो इस तरहसेभी कल्पना कर सकते हैं

है सारा विश्व एक सत् है। और, इस सत्त्वके निगाहमें सब कुछ अद्वैतमात्र है। दूसरा कुछ है ही नहीं। बतलावो—सत्के अतिरिक्त भी कुछ है क्या? सत्के अतिरिक्त शब्दोंमें कहा जायगा असत् और असत् माना नहीं, उसका अस्तित्वही नहीं है। तो जोभी है वे सब असत् हैं। सत्त्वस्वरूपका परित्याग करके कोई रहही नहीं सकता, इस कारण सारा विश्व एक है।

सदेकरूप विश्वका द्रव्यक्षेत्रकाल भावकी मुख्यतासे परिचय—अब सत्त्वकी दृष्टिसे निहारेगए एकरूप विश्वमें जब भेददृष्टि करेंगेतो भेददृष्टि करनेका तरीका है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। किसीभी अभिन्न पदार्थका भेद करना है विश्लेषणके साथ उसका विवरण करना है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन अपेक्षावोंकी सहायता ली जाती है। जितनेभी दर्शन प्रचलित हैं, जोभी मत निकले हैं वे सबके सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमेंसे किसीसे सम्बंध रखते हैं और उनका योग्य केन्द्रीकरण न होनेसे वे एकान्तमें आगए। किसीभी दर्शनके सम्बंधमें आप विचार करेंगेतो इन चारोंमेंसे किसीसे सम्बंध मिलेगा। इन चारोंकेही एकान्तसे अनेक दर्शन उत्पन्न हुए हैं। तो जब एक अस्तित्व करके हमने सारे विश्वको एकरूप निरखा, अब उसका जब हम भेद करने चलेतो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे भेद होंगे।

सदेकरूप विश्वके परिचयमें नाम स्थापनाका प्रयोग—साथही आप यहभी जानेंकि नाम और स्थापनाके बिनातो जराभी कदम नहीं चल सकते। किसीभी पदार्थका स्पष्टीकरण करनेके लिए नाम पहिले रखना होता है। नामके बिनातो कुछ व्यवहार नहीं चल सकता है। और, जब नाम रखातो नाम रखनेके बाद यह बुद्धि आतीही आवश्यक है कि देखो—जिस नामसे बोला गया ना उस नामका वाच्य यह पदार्थ है। इसहीका नाम स्थापना है। जैसे एक मैं

इनसे यह कहदिया जाताकि आकारवान पदार्थमें स्थापना साकार स्थापना है और आकाररहित पदार्थमें अन्यकी निराकार स्थापना है। लेकिन परकी परमें स्थापना करना उपचरित व्यवहार है, जो वास्तविक अधिगमसे सम्बंध जो वस्तुमें धर्मप्राप्तहो उसका वर्णन करनेवाला फिर यह निक्षेप न रहा। वह स्थापनानिक्षेप क्या है कि कुछभी करनेमें स्थापनाको कहनाही पड़ेगा। यहतो अपने मनकी बात। हम कभी प्रतिमामें यह पार्श्वनाथ हैं ऐसा ज्ञान करते हैं नहींभी करते हैं यहतो इच्छाकी बात है। कभी निराकार ऊंट, घोड़ा आदिककी स्थापना करते हैं कभी नहीं भी करते तो व्यवहारमें नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चार निक्षेप आ पड़ते हैं। वहां मनमौजकी बात नहीं है कि हम किसी पदा समझायें या विवरण सहित जानें और वहां हमें स्थापनाका स लेनाहो लें, न लेनाहो न लें, किन्तु जोभी व्यवहार किया जा वह नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन निक्षेपोंसेही हो सकेगा। सोचिये अब यह स्थापना स्थापना न रही कि किसी पदार्थमें अन्यकी बात रख देना। हम जबभी आंख खोलकर कुछ देखते और उस देखनेके साथही अथवा तुरन्तही जो हमें ज्ञान होत उस ज्ञानके होनेमें नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चारोंके निक्षेप प्रयोगमें आ जाते हैं। भलेही हम चिरन्तन अभ्य कारण उसमें ऐसा भान नहीं करते लेकिन आ जाते हैं जोभी भान हुआ उस भानके साथ किसी न किसी शब्दके किसी न किसी नामके रूपमें, चाहे वह बहिर्गत नाम बने अर्न्तवृत्ति नाम बने, नामका भान तुरन्त होता है और साथही है वह" यों स्थापना होती है। यहां अन्य चीजोंकी स्थापनाकी नहीं कह रहे किन्तुजो पहिले विकल्परूपसे जाना, नामरूपसे

उसके साथही साथ यहभी बोध रहता है कि इस नामके द्वारा यह है वाच्य और फिर इसकी ध्रुवताका और उसकी वर्तमान पर्यायका, इनकाभी बोध साथमें रहता है। तो हमारा व्यवहार और व्यावहारिक ज्ञान इन चार निक्षेपोंरूप है।

सदेकरूप विश्वके अधिगममें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी मुख्यताकी दृष्टिका प्रभाव—इस "है" के रूपसे जानेगए सारे विश्वकी हम ६ दृष्टियोंमेंसे पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टिकी मुख्यतासे जब हम कुछ विशेष जानना चाहेंगेतो हमें ६ जातिके द्रव्य नजर आयेंगे। यद्यपि एक सत्‌में इन ६ दृष्टियोंसे ६ द्रव्य नहीं निकले लेकिन बोध हम इन्हीं दृष्टियोंमें बनायेंतो बना सकते हैं। एक समझनेकी बात है। यह सारा विश्व एक सत् है। जब हम इसको नामदृष्टिसे देखेंतो नामका काम है चलाना। नाम बिना कुछ नहीं चल सकता। किसी बच्चेका नाम न रखेंतो कुछभी बात न कर सकेंगे, उसे बुलावो, उसे लावो, क्या कहेंगे ? बिना नामके व्यवहार क्या है ? तो नाम चलानेके काम आया करता है। और, लोगतो कोई-कोई इतने बेसरमभी हो जाते हैं कि अपने आप कहते हैं कि मेरा नाम चले। मेरा नाम कैसे चलेगा ऐसा लोग बोलभी देते हैं। तो नाम चलनेकी बातसे सम्बंध रखता है। तो अब आप यह देखिये कि सारे लोकमें जोकि समस्त पदार्थ एक सत्‌की दृष्टिसे परख लिए गए हैं, उस नामकी मुख्य दृष्टिसे कौनसा द्रव्य ध्यानमें आया ? धर्मद्रव्य। धर्मद्रव्य जीव पुद्‌गलकी गतिमें, चलनेमें सहायक है। और, नामकाभी काम चलानेका है। और, अब थापना दृष्टिसे ध्यानमें आया-अधर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य जीव पुद्‌गलको स्थापित करा देता है, अर्थात् चलते हुए जीव पुद्‌गलके ठहरनेमें सहायक है। तो जब हमने एक दृष्टिमें परखेगए विश्वको स्थापना 'की दृष्टिसे परखातो अधर्मद्रव्य विदित हुआ। अब द्रव्य

देखें अर्थात् पिण्ड दृष्टिसे देखें। लोग पिण्डात्मक द्रव्य कहा करते हैं, जैसे—चौकी, बेन्च, भींट आदिकातो इस अवकाशसे हमें पुद्गल ध्यानमें आया क्योंकि पुद्गलही अवयवी बन पाते हैं। क्षेत्रदृष्टिसे आकाश ध्यानमें आया, कालदृष्टिसे काल और भावदृष्टिसे यह मैं जीवतत्त्व समझमें आया। इस कथनमें केवल इतनाही प्रयोजन लेना है कि सद्भूत पदार्थोंमेंसे जब हम भावदृष्टिकी प्रधानता करके देख पायेंगेतो हम जीवको देख पायेंगे। इस जीवको शुद्ध पिण्डदृष्टि आकारदृष्टिकी प्रधानतासे न समझ पायेंगे कि मैं हूं। इसे हम किसी वर्तमान परिणतिसे न समझ पायेंगे कि मैं क्या हूं। इसी तरह आकारदृष्टिसे मैं कितना लम्बा-चौड़ा हूं, ऐसा ध्यानमें लाकर हम अपनेको न समझ पायेंगे कि मैं क्या हूं किन्तु भावदृष्टिसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक असाधारण भाव और उनमेंभी मैं अभेदरूपसे चिन्मात्र हूं। यों केवल चिद्भावकी दृष्टिसे जब हम निरखने लगेंगे अपने आपमेंतो समझ पायेंगे कि मैं हूं। ऐसा यह मैं साधारण गुणरूपभी हूं और असाधारण गुणरूपभी हूं।

"हूं" की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता—मैं हूं इसका वर्णन चल रहा है। मैं हूं तो नियमसे उत्पादव्ययध्रौव्य वाला हूं। है मैं स्वरूप पदार्थ सत्तामें अनुस्यूत होता है अर्थात् सन्मात्र होता है और सत्ता उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त होता है। सत्ताका लक्षण एक [illegible]ध्रौव्यात्मक है। मैं कुछतो नियमसे यह कुछ बनेगा, रहेगा और बना रहेगा। जिनको इस बातपर विश्वास नहीं वे जीव घबड़ाते हैं, हाय! मैं नष्ट हो जाऊंगा। अरे मैं जीव हूं। जीव कभी नष्ट नहीं होता। कुछ लोग ऐसा जानकर घबड़ाते कि मैं नष्ट नहीं होगा, यहांसे मरकर अन्य भवमें जाऊंगा तिसपरभी इस [illegible] है कि मैं न जाने क्या बनूंगा। न जाने कौनसी

कभीभी समय इन पदार्थोंका संयोगहो जाता है वे पदार्थ इसके कुछ नहीं हैं और वे केवल एक अशान्तिके ही आश्रयभूत होते हैं। आत्मा स्वयं शान्त है, यदि यह अपने आपमेंही रहे। बाहर अपनी दृष्टि न करेतो इसकी अशान्तिका कोई प्रसंग नहीं। मगर अनादिकालसे एकदम बाहरही बाहर इसकी दृष्टि है, इस कारणसे इसको न अपना पता है न बाहरसे हटनेमें अपना कल्याण समझना है। मैं हूं और अहेतुक हूं। किसी कारणसे हुआ नहीं। अनादिसे हूं, अनन्तकाल तक रहता हूं। यह चर्चा चल रही है एक अमूर्त केवल चित्प्रतिभासमात्रकी। देहकी या उन विकल्पोंकी जिन विकल्पोंमें आत्मस्वरूपकी श्रद्धा की गई है, इन किसीकीभी चर्चा न करके केवल शाश्वत् एक चित्स्वभावकी बात कही जारही है। मैं वह अनादि अनन्त अहेतुक हूं।

"हूं" का प्रयोजन—अच्छा, अब हूं का प्रयोजन सोचिये, किसलिए हूं मैं? कोई पदार्थ होता है तो उसका कुछ न कुछ प्रयोजन रहा करता है। तो मेरे अस्तित्वका प्रयोजन क्या है? किसलिए हूं? देखो ना, यह तखत हैतो बैठनेके लिए है, बेन्च हैतो पुस्तक रखनेके लिए है। मैं किसलिए हू? मैं किसलिए हूं, इसका उत्तर पानेके लिए पहिले इन तखत बेन्चोंकाही निर्णय कर लीजियेकि ये तखत बेन्च आदिक किसलिए हैं। लोग कहते हैंकि तखत बैठनेके लिए है, लोटनेके लिए है। अर्थात् इसका अस्तित्व इस प्रयोजनके लिए है। तो ऐसा कहना गलत है। तखत बैठने लोटने आदिकके लिए नहीं है। कोई बैठलेतो यह उस बैठने वालेकी क्रिया है; उसकी जबरदस्ती है, पर तखत बैठनेके लिए नहीं है। इसका अस्तित्वतो केवल अपना सत्त्व बनाये रखनेके लिए है। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक रूपसे निरन्तर रह रहा है। इसका प्रयोजन केवल यह रहे, इसका अस्तित्व न मिटे इसके

इसके आगे इन वस्तुओंका कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे कभी कोई कहता है ना कि बेकार चीज थी और देखो—इसने किस तरहसे इसका उपयोग कर लिया। तो इसी तरह यह मानलो कि जगतके समस्त पदार्थ बेकार चीज है एक दूसरेके लिए। पर यह चेतन चूंकि प्रभु है, बुद्धिमान है और यह इनका उपयोग करता, उपयोग करता, लेकिन ये सब है बेकार। इन पदार्थोंका अस्तित्व मेरे उपभोगके लिए नहीं, मेरे आरामके लिए नहीं, किन्तु इनका अस्तित्व इनकेही लिए है। यदि ये पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक रूपसे न रहते होतेतो इनका अस्तित्वही न था। सभी पदार्थोंका प्रयोजन केवल अपना सत्त्व बनाये रखना है। ये अचेतन जानते नहीं है, ऐसी इनमें प्रयोजनकी बात कहनेसे कुछ जरा बेतुका मामला लगता है, लेकिन ये न जानें, न सही, किन्तु ये है तो किसलिए है? यह प्रश्न व्यर्थका नहीं है। सभी पदार्थ अपना अस्तित्व बनाये रहनेके लिए है, सदा बने रहनेके लिए है, इसी प्रकार मैं हू तो मात्र हूं। इसके लिएही हु, इसके आगे मेरा कोई प्रयोजन नहीं।

"हू" का अधिक प्रयोजन माननेमें क्लेशापन्नता—जब "हू" इससे अधिक मेरा कोई प्रयोजन नहीं और मानते है प्रयोजन, बस इसीलिएतो दुःख आता है अजी मैं लोकमे ऐसे ठाटसे रहनेके लिए हूं, इतना धन संचय करनेके लिए हु, मे इस तरहकी इज्जत पानेके लिए हु। जहां और, और प्रयोजन बना रखे हों बस वही क्लेश है, और ~न वस्तुगतास्वरूप यह समझमें आता है कि मैं हू तो "हू" इसके हूं। इसके आगे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। देखलो—तभी ात सब है वह तथ्यकी बात सामने आती है। सब छूट जाता ़ जाता है वही अकेलातो क्योंकि इसका प्रयोजनभी इतनाही । वह कहीं नहीं मिटता और बाकी जो गैर-गैर प्रयोजन मान .ना थे तो मिटेंगे। जैसे कोई जबरदस्ती दूसरेकी सम्पदाको अपनी

समझकर और यह अपनेमें निर्णय बनाले कि बस यहीतो मेरी सम्पदा है और इसके लिएही मैं हूँ तो उसे सिवाय क्लेशके और क्या मिलता है ? तो इसी तरह जो मेरे प्रयोजनमें बातही नहीं है उन-उनको हम अपना प्रयोजन मानेंतो उसमें क्लेशके सिवाय और क्या बात है ? मैं हूँ और अपने अस्तित्वके लिएही हूँ। निरन्तर उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक बना रहूँ बस इसके लिए हूँ। जब मोहबुद्धि होती है तब बाहरमें संकोच होता है। लिहाज, भय आदिक ये सारी बातें आने लगती हैं। यद्यपि यह बात गृहस्थावस्थामें कुछ दर्जेतक ठीक बतायी गई है, लेकिन साधुजनोंकी वृत्ति देखोतो उन्हें संकोच, लिहाज, शर्म, भय, शंका आदिक किसीकाभी स्थान नहीं है। उनकीतो एक अलौकिक वृत्ति होती है। जैसी वृत्ति गृहस्थजनों की होती है उससे उल्टी वृत्ति साधुजनोंकी होती है। उनमें ऐसी वृत्ति होनेका कारण है आत्मस्वरूपका यथार्थ परिज्ञान।

अस्तित्वका प्रयोजन उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत्त्व बनाये रखना—

किसीकोभी यदि आत्मस्वरूपका यथार्थ परिज्ञान हो जायतो फिर सारी समस्याओंका समाधान पाना उसके लिए अत्यन्त सुगम हो जाता है। बस मैं हूँ, हूँ बने रहनेके लिए हूँ, इसके आगे और कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि अपने स्वरूपमें यह अकेला है, अपने आपमें यह केवलमात्र है। इसमें दूसरेका कोई सम्बंध नहीं। दूसरेका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इसमें आता नहीं। तो जब केवलमात्र यही हैतो इसका काम क्या रह गया ? सिवाय यहकि अपने स्वरूपमें नवीन परिणति उत्पन्न करे, पुरानी परिणति विलीन करे और ऐसाही यह करता रहे। सिवाय इसके और इसका काम क्या रह गया ? अन्दरमें सोच लीजिए। अब ज्ञानसे उपयोगसे हम अन्य-अन्य अनेक बातें लपेटते रहते हैंतो यहतो . . . स्वरूपसे चिगनेकी हालतमें ये सब कल्पनायें और . . .

मैं हूं और अपने हूं के लिएही हूं, इसके आगे मेरा प्रयोजन नहीं।

आत्माके स्वामित्वका विचार—यह मैं किसका हूं? इसका उत्तर जाननेके लिए पहिले बाहरमेंभी सभी जगह यह निरख डालेंकि कोईभी किसी अन्यका हुआ करता है क्या? पुद्गलोंमें, इन स्कंधोंमें देखलो—जैसे भीटपर गाटर रखा हैतो लोग कहते हैंकि इस भीटका गाटर अच्छा है, तो वह गाटर भीटका है क्या? अरे गाटरका अतित्त्व गाटरमें है, भीटका अतित्त्व भीटमें है, पर केवल बाहरी सम्बंध है, वहभी वस्तुगत् नहीं। अव्याप्यवृत्ति, बिना एक दूसरेमें व्यापकर वहीं समीप रहना इतनी मात्रही तो बात है। तो यहभी बात किसीकी नहीं है। किसका है यह संयोग? गाटरका संयोग है क्या? नहीं, भीटका संयोग है क्या? नहीं, क्या दो का संयोग है? नहीं, दो की तो कोई एक चीज होतीही नहीं। तो अब वस्तुगत दृष्टिसे देख रहे हैं, भीटकी गाटर नहीं है, क्योंकि भीटका गाटरमें प्रवेश नहीं है। कोई कहेकि संयोग है, तो क्या भीटका संयोग है? भीटको खूब निरख डालो—कहीं संयोग न नजर आयगा। तो क्या गाटरका संयोग है? गाटरमें अणु अणुमें खूब निरख डालो—वहां संयोग न मिलेगा। और, दो की मिलकर एक चीज कभी होती नहीं। भलेही यह लोग कहते हैंकि हम दो भाइयोंकी मिलकर यह सम्पत्ति है, यह चीजतो हम दो जनोंकी है। तो ठीक है, यह व्यवहार है, यह काल्पनिक है, पर कोईभी चीज क्या दो की हो सकती है? नहीं हो सकती।

और, जिस चीजको दो की कहते हैं वह किसीकी भी नहीं है। तो बाहरमेंभी निरख डालोकि कोई अणु किसी दूसरे अणुका नहीं है। भलेही दुनियामें ये सब पदार्थ हैं, कुछ बुद्धि द्वारा, उपायद्वारा काफी इकट्ठे हुए हैं तो कुछ अगल-बगल अटपटही हुए हैं।

हो जायें टुकड़े अथवा अनेक अणुवों का मिलकर बन जाय पिण्ड लेकिन वहां कोई सत किसी अन्य सत का नहीं है। तब एक यह आम कानून बन गयाकि कोईभी सत किसी दूसरेका नहीं है, गुंजाइशही नहीं है। तब अस्तित्व सबका पृथक् है। और, सभी पदार्थ अपनेही प्रदेशोंमें, अपनेही गुणोंमें उत्पादव्ययध्रौव्यरूपसे रहते हैं, तब किसीका कोई धनही कैसे आयगा ?

परको स्वामी माननेका परिणाम—भैया ! है नहीं किसीका कुछ, फिरभी माननाकि मेरा यह कुछ है, बस यही संसारमें जन्म-मरण करनेका और इतने भवोंमें, देहोंमें, दुर्गतियोंमें बने रहनेका, फंसे रहनेका यही कारण होता है। जैसे जिस किसीभी झगड़ेको कहते हैं—बातता कुछभी नहीं और विना बातका झगड़ा बन गया, योंही यहां देखिये ना, यह झगड़ा क्या बस बन रहाकि यह मैं जीव निगोदमें, प्रत्येक स्थावरमें, कीड़ा-मकोड़ामें, देव, नारकी, पशु-पक्षी आदिक अनेक प्रकारके देहोंमें फसता हूं, बंधता हूं, जन्ममरण करता हूं, दुःखी होता हूं। यह झगड़ा कितना बड़ा बन गया। और, बात है कुछभी नहीं, झगड़ा बतानेके लिए, कुछ समझानेके लिएकि किसी बातपर यह झगड़ा है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दके स्वभाववाला यह प्रभुजी इतनी गर्त अवस्थामें दुःख भोग रहा है, यह किस बातपर भोग रहा है, असली चीज क्या है ? लोगतो अंदाज लगातेकि यदि कोई बड़ा आदमी बिगड़ रहा है तो कोई बात होगी। तो यहां इतना बड़ा पुरुषजो प्रभुकी तरह अनन्त ज्ञानादिक स्वभाव वाला है और वहजो इन दुर्गतियोंमें, भवोंमें जन्ममरण करता फिर रहा है तो कुछ बाततो होगी। बात कुछ नहीं। हां बातकी बात है। चीजकी बात कुछ नहीं है।

बातके झगड़ेका बतगड़—देखिये बातके झगड़े प.

भी बड़ा रूप रख लेते हैं। तो इतनाजो बड़ा झगड़ा बनगया है वह झगड़ा बातका झगड़ा है। वह बात क्या ? यहीकि मैंतो किसीका हूं नहीं और ये मेरे कुछ हैं नहीं, और मानते यह हैंकि मेरा अमुक है, मैं इसका हूं, इतनी एक कल्पनाभर करी, किसी वस्तुका बिगाड़ नहीं किया, किसी वस्तुको तोड़ाफोड़ा नहीं, केवल एक अपने आशयमें भाव बनाया यदि आशयमें यह भाव न बनाते और इन चीजोंको तोड़तेफोड़तेभी रहतेतो इतना झगड़ा न था लेकिन आशयमें जो ये मिथ्या कल्पनायें मनमें आयीं, उपयोगमें आयीं, इनसे इतना बिगाड़ हुआकि देखो—यह शरीरोंका भार ढोते फिर रहे हैं। हाड़, मांस, चमड़ो, मल, मूत्रादिक अपवित्रतायें आतयीं, यह गलता है, सड़ता है, जन्मता है, मरता है, कितनी तोड़फोड़ होरही है। ये सब बातें ही क्यों रही हैं ? बस एक इतना आशय करके मानसे कि मेरा कुछ है और इसका मैं हूं।

स्वरूपदृष्टिमें अन्यकी बाधकताका अभाव—स्वरूपदृष्टि कर लेने वाला पुरुष, अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभवी पुरुष कभीभी यह विश्वास नहीं रखता कि मैं किसी अन्यका हूं या अन्य कोई मेरे हैं। मैं हूं स्वतंत्र हूं, हूं और परिणमता हूं। इससे आगे मेरा कुछ काम नहीं। इससे आगे मेरा कोई सम्बंध नहीं। जब कभी सम्बंधभी मान रहे हैं, उस माननेकी स्थितिमें भी न मेरा कुछ है किसीका मैं हूं। ऐसा सबसे निराला अपने साधारण और असाधारण गुणोंरूप मैं आत्मा हूं। अनुभव करके किसी क्षण यह तो मान लीजिये पूरा उत्साह करके, श्रम करके, प्रयत्न करके कि मैं [illegible] हूं क्या ? इस हूं की समझमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा नहीं है। जैसेकि कोई सामर्थिक भाई मेरी स्त्री उल्टी-उल्टी चलती है, मेरा पति योंही अटपट चलता है, मुझे धन नहीं है, मेरा लड़का या मेरा पिता बिल्कुल मुझसे विरुद्ध है, ये लोग

पर रौब जमाते हैं। मैं क्या करूं ? कैसे मुझे शान्ति मिले ? कोई कितनही दवा रहाहो, वहां दवा रहा ? वहतो सिर्फ कर रहा, अपनेमें अपनी चेष्टा कर रहा, मैं अपने आपमें में एक दृढ़ बनकर अपनेमें दृष्टि करूं तो इसमें बाधा देने ता कौन ?

आत्माकी अन्तः स्वतन्त्रता—भलेही कोई प्रबंधक या कोई पाही इसे बैंद करके लेजाय, जेलकी कोठरीमें इसे बन्द करदे, यहतो बतलावोकि वह आत्मा बन्द है क्या ? ज्ञानी पुरुष है, र वही अपने आपमें अपने स्वरूपकी दृष्टि कर रहा, अनुभूति कर , अपने स्वरूपदर्शनका आनन्द लेरहातो इस आनन्दकोभी कोई द कर सकेगा क्या ? वहतो वहां बन्धनमें नहीं है। घरके लोग, रेजन लोग किसी तरह कितनाही दवाव करें, कुछ करें, अथवा न करें, स्नेह करें फिरभी मैं अपनी कल्पनाके दवावसेही दवता । विरोध और द्वेषके दवावसे रागका दवाव और खराब है। मे—किसी पुरुषको दवाकर, डाटडपटकर जो काम नहीं करा कते वह काम स्नेह दिखाकर, प्रशंसा करके आप करालें। तो क्या गका दवाव द्वेषके दवावसे कम है, लेकिन दवाव किसीपर सीका नहीं है। वस्तुतः कोई अपने आपको अपनी दृष्टिमें रखे, मझे, जरासाहीतो काम है, भीतरही रहनेवाला यह मैं भीतरही तर अपनेको निरखने लगूं, इसमें कोई विशेष श्रमतो नहीं है, र रुचिहो इस तरह, यह ज्ञान रखाहोकि जगतमें जितनीभी म्पदा, जितनेभी समागम हैं वे सब असार हैं, इतनाभी दृढ़ द्धान होतो इसको आत्महितका मार्ग प्राप्त होना सुलभ होजाता है। तो यह मैं हूं, अनादिसे हूं, अनन्तकाल तक हूं, किसीका नहीं हूं, अपनेही हूं के लिए हूं, और किसीभी अन्य पदार्थका नहीं हूं।

आत्मस्वरूपको यथार्थ जाननेकी अत्यावश्यकता—आत्मस्वरूपके

जाने बिना इस जीवको कभीभी शान्ति प्राप्त नहीं होसकती, कारण यह है कि अपने आपको छोड़कर किसीभी बाह्य पदार्थमें उपयोग लगायातो प्रथमतो इस उपयोगका बाह्य पदार्थोंके साथ मेल नहीं खाता, क्योंकि भिन्न द्रव्यपना है। दूसरी बात यह है कि वह आश्रयभूत पदार्थ नष्ट होजायगा। तब यह उपयोग अनाश्रित होकर या अपने आपही अशक्तिसे अनाश्रित होकर फिर किसी बाह्य पदार्थकी खोजमें लगेगातो यों कभीभी इन बाह्य पदार्थोंमें इस जीवको शान्ति प्राप्त नहीं होसकती। हम आप सबको यदि वास्तवमें शान्तसुखी होना हैतो नियमसे अपने आपके स्वरूपमें मग्न होनाही होगा, यह अपना पक्का निर्णय बनावें। इस भवमें, जिसे कहेंगे सम्यक्त्वो यदि सम्यक्त्वो नहीं होपातातो फिर इस जीवका कुछ ठिकाना न रहेगा। आजतो मनुष्यभव पाया है। अच्छा समागम मिला है। अन्य भवोंमें यह फिर क्या उपाय बनायेगा सुखी होनेका ? अतएव आत्मस्वरूपका ज्ञान कर लेना अत्यन्त आवश्यक है, यह उतना अधिक आवश्यक है जितना आवश्यक भोजन और घर नहीं है। एक भवमें यदि घरका ठिकाना न मिला और कहीं जाड़ा, गर्मी, बरसात आदिमें स्वतंत्रतासे टिक न सकेतो कुछ हर्ज नहीं, किसीभी जगह रह लिया, कोई बात नहीं, पर यह भव सदातो नहीं रहनेका। जिस किसीभी प्रकार गुजारा कर लिया जायगा, लेकिन आत्माको आत्माका ठौर न मिलेगा। तो यह अनन्तकाल तक बेघरका रहकर भटकता रहेगा।

शान्तिलाभके लिए धर्म और धर्माधारके आश्रयकी प्रमुखता देनेका कर्तव्य—जिस तत्त्वकी ओर प्रायः मनुष्यकी रुचि और दृष्टि नहीं है और जिसको एक फाल्तू काम समझते हैं कि जो एक कुल परम्परामें चला आया है—मंदिर जावो, पूजापाठ स्वाध्याय आदि करो, इनके करनेसे समाजमें मान बड़ाई मिलती है, योंही समझकर अगर हो

समय निकालो उसमें समय कहीं पर लिया जावेगा। यह इस तरहकी बात नहीं है। जीवनका समय सबसे पहिले ज्ञानार्जन धर्मकी आराधनाके लिए है और फिर समय बचताही है, तो समय कहा उसमें फिर अपनी व्यवस्था बनावें। जैसे जीवनमें जो मुख्य काम होता है उसके लिए आपका सारा शामिल है, लेकिन अन्य कार्योंको किया करते हैं। तो जैसे मुख्य कामके अतिरिक्त बचे हुए समयमें अन्य छोटे-मोटे कामभी करलिए जाते हैं योंही इस आत्माके सुखी शान्त होनेके अर्थ मुख्य काम है आत्म-ज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मरमण। यदि ये मुख्य कामभी रहतेतो अन्य कार्योंकी आवश्यकताही न थी, पर इस मुख्य काममें टिकभी नहीं सक रहे, कोई जराभी नहीं टिक पाताती उसके लिए अन्य काम माने जाते हैं। तो अपने जीवनमें मुख्य काम समझना चाहिए धर्म। आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मरमण। यह अपनीहीतो बात है, अपनेही लिए करनेकी बात है। इसमें दूसरेकी कुछ बात नहीं। अनिरुद्ध, महादेव आदिकी कुछ बात नहीं।। केवल अपने आत्माकीही बात कह रहे हैं। आप कैसे सुखी रह सकते हैं? एक वैज्ञानिक ढंगसे प्रयोग कर करके इसका निर्णय बनालो। इसमें संतोंने कहा है, प्रभुने कहा है कि ऐसा करो, इसलिए हम ऐसा करते हैं, यों कोई बात न रखें, किन्तु यह निरखें कि प्रभुने जो कहा है वह सत्य है ना। उसकी सत्यता अपने आपके प्रयोगमें लाकरके निरखिये। देखो—जब ज्ञानोपयोग अपने आत्माके उस ज्ञानानन्द स्वरूपपर आता है तब शान्ति मिलती है कि नहीं। जब यह उपयोग किन्हीं बाह्य पदार्थोंमें रमता है भ्रमता है तब इसको अशान्ति, आकुलतायें होती हैं कि नहीं? परख करके अनुमान करलो। और, फिर जहां आपको शान्ति प्रतीतहो, वास्तविक ढंगसे वहां निराकुलताका मार्ग मिलताहो उस मार्गपर आप चल दीजिये।

निर्विवाद सिद्ध होगाकि मुझे शान्ति मिल सकेगी तो अपने आत्‍
आत्मामें समा जानेसे मिल सकेगी।

स्याद्वादसे स्वकीय अस्तित्वका निर्णय—आत्मशान्तिके उपायमें
सर्वप्रथम यह बात कह रहेकि अपने अस्तित्वका निर्णयतो करो
मैं हूं। इस का निषेधतो कियाही नहीं जासकता। यदि कोई पुरु
कहे बड़े जोरसे शब्दों द्वारा स्पष्टकरकि मेरे जीभ नहीं हैतो क्या
कोई सुनने वाला मान लेगा? जिससे कहा जारहा हैकि मेरे जीभ
नहीं है वहीतो जीभ है। इसी प्रकार कोई कहेकि मेरे आत्मा नहीं
है, मैं आत्मा नहीं हूं, तो जो चिन्तन कर रहा, जो ऐसी समझ
बना रहाकि मैं नहीं हूं वहीतो है आत्मा। मैं का निषेध कौन कर
सके? तो सर्वप्रथम अपने आपमें यह निर्णय लेना हैकि मैं हूं और
जब मैं हूं तो मैं मैं हूं, अन्य कुछ नहीं हूं। किसीभी पदार्थका अ
अस्तित्व तब समझ पायेंगे जब यह सामने बात होगीकि य
यह ही है, यह अन्य कुछ नहीं है। इस ज्ञानमें यदि संशय है न
"यह है" यहभी आप न समझ सकेंगे। "यह है" इसके साथ कुछ
[illegible] है और यह अन्य कुछ नहीं है यह बातभी आप निर्णय न कर
सकेंगे। तो कुछभी आप कहें, किसीभी वस्तुका सत्त्व बतायेंगेतो
[illegible]

गर्भित होती है। कुछभी हैतो वह है, अन्य नहीं है, फिरभी वास्तवमें अवक्तव्य है।

अनुरूप प्रयोगसे अपने अस्तित्वका दृढ निश्चय—यह मैं, मैं हूं, अपने स्वरूपसे हूं, यह बात चित्तमें तब उतरती है जब किसीभी बाह्य पदार्थका विकल्प न हो। बाह्य पदार्थ या बाह्य तत्त्वोंके विपरीत श्रद्धा न हो। उन्हें यथार्थ जानें, अपने आपके स्वरूपकीभी विपरीत श्रद्धा न हो जिसके कारण जिसके आधारपर बाह्य पदार्थोंकी चिन्ता न रहे, व्याकुलता न रहेतो इस प्रयोगसे जब हमें अपने आपमें विश्राम मिलता हैतो यह ज्ञानही स्वयं ढूंढ लेता है, जान लेता हैकि यह हूं मैं आत्मा। अपने स्वरूपमें हूं। अब आप जानेंकि आत्मज्ञान कितना उच्च वैभव है। और, समस्त हितोंका कारणभूत है। हम धर्मके नाम परभी सबकुछ समझ डालें, सब बाह्य प्रसंग कर डालें, लेकिन यह आत्मतत्त्वकी समझ न बनायेंतो उन सब बाह्य पदार्थोंसे इस आत्माको शान्तितो मिली नहीं, न कर्म कटे। धर्मका आधार है आत्मज्ञान। आत्माका ज्ञान नहींतो धर्मका पालनभी नहीं। किसी दूसरेका धर्म थोड़ेही पालना है। हमेंतो अपने आपके आत्माका धर्म पालना हैतो आत्माकाजो धर्म है, आत्माकाजो स्वरूप है, स्वभाव है वह विदित होतो मैं क्या पालूं?

धर्मपालनका संक्षेपमें दिग्दर्शन—संक्षेपमें आप इतना जानेंकि आत्माका धर्म है जानना देखना। केवल जानना रहे, केवल देखना रहे, उसके साथ विकल्प न हों, रागद्वेषके विकल्प न उठें, मात्र जानन देखन रहेतो समझियेकि हम धर्ममें स्थित हैं और हम धर्मके पालनहार हैं। और, ऐसा बननेके लिए व्यवहारमेंभी हमारी ऐसी प्रवृत्तियां होंकि हम अपनेको आत्माके धर्ममें ठहरानेके पात्र बनाये रखेंतो व्यवहारमें यहभी धर्म कहलाता है।

मालिन्योंसे रहकर हमें यह शिक्षा नहीं मिलती कि हमें आ
ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मामें ठहरना है, पर न इनसे [illegible]
जाते हैं तो वे सब बातें व्यवहारपक्षमें भी नहीं रहतीं। व्यवहारपक्ष
वह कहता है जो निश्चयमें पहुंचानेमें सहायक हो। तो हम
आत्माको जानें कि केवल इतनी बात है दूसरा काम नहीं।
दूसरा काममें जब इसमें हम ठहर नहीं पाते तब करना चाहिए।
करने पड़ते हैं। तो यह मैं आत्मा हूँ, अपने स्वरूपसे हूँ और परके
स्वरूपसे नहीं हूँ।

आत्मस्वतन्त्रताके निर्णयका निर्णय—अब अपने आपके सम्बंधमें विचार करेंकि मैं स्वतंत्र हूं। स्वतंत्रता अर्थ है—अपने आपके द्रव्यके आधीन हूं। एक सामान्यतया वस्तुस्वरूपकीही बात कही जारही है। समस्त वस्तुयें स्वतंत्र हैं। यथार्थ दृष्टिसे देखोतो पदार्थका अतित्त्व किसी दूसरेकी कृपापर निर्भर नहीं है। हां यह आत्माही जिन जिनकी उपासना करता है, अपने आपको कुछ अलौकिक शान्तिधाममें पहुंचाता है उनकी कृपा कही जाती है। पर अतित्त्व किसी दूसरेके आधार पर नहीं है। जो है सो स्वतः सिद्ध है। असत् कभी बनाया नहीं जा सकता। असतकी उत्पत्ति नहीं, सत्का विनाश नहीं। यह ऊंचे-ऊंचे सभी दार्शनिकोंने माना है। तो मैं हूं तो हूं, सदासे हूं, सदा तक रहने वाला हूं। अब यह बात दूसरी हैकि हम कैसी दृष्टि बनायेंतो हमपर क्या बीते ?

क्या पाते? यह एक निर्णय
त्मीय विज्ञानकी बात है। किसीभी
काल, भावकी दृष्टिसे होगा,
द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारों

एक पुस्तक है, तो इसको है आपने कब समझाकि यह है ? जब आपको इसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों विदितहों तब आपने समझ पायाकि यह है। द्रव्यसे कैसा है यह पिण्ड ? जिसे आंखोंसे देख सकते हैं वहतो है पिण्ड और इसके साथही साथ इसका आकार प्रकारभी आपको विदित होरहा है। जितनेमें यह फैला है वह कहलाया इसका क्षेत्र। और, इसमेंजो परणति है, जो व्यक्ति है, जो रंग प्रकट है, जो स्पर्श प्रकट है, जीर्णशीर्ण अथवा मजबूत जो कुछभी परिणति इसमें है वहभी आपको तुरन्त समझमें आयी। साथही इसका भाव, अर्थात् जो चीज शाश्वत रह सकती है, कुछ समयकाभी भाव आपकी निगाहमे है। जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों आपकी समझमें हैतो आपने उस में तत्त्वको जाना। बेन्च चौकी आदिकजो हमारे आपके ज्ञानमें आते हैं तुरन्तही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चारों ज्ञानमें आते हैं। कोई बता सके अथवा नहीं। बालकसे लेकर बड़े-बड़े बुद्धिमान तक सबकोजो कुछभी चीज विदित होती है उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव यह चतुष्टय विदित होही जाता है। इसके बिना वस्तुके जाननेका और कुछ उपाय नहीं है।

आत्माका स्वरूप चतुष्टयसे निर्णय तथा द्रव्यदृष्टिसे ईक्षण—अब आत्माकोभी देखिये—मैं आत्मा हूं तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चारों चीजें होनीही चाहिए। तो द्रव्य क्या है ? जो पिन्डहो। रूप, रस, गंध, स्पर्श वालाहो। इस तरहके पिण्ड रूपसे अगर निरखा जायतो आत्माके जाननेमे बाधा आयगी। और, ऐसा निरखनातो जीवका अनादिकालसे बना हुआ है। यह जीव शरीरको आत्मा मानता है, तो पिण्डरूपसे ही तो अपनेको समझता। परन्तु, इन रूपरसादिक पिण्डरूप मैं नहीं हूं। ज्ञानदर्शन, आनन्द श्रद्धा आदिक गुण वाला हूं। अर्थात् मैं

आत्माके जो गुण हैं और जो परिणतियां हैं उनका पिण्ड जो मैं बन रहा हूं सो किसी अन्यकी कृपासे नहीं बन रहा, किन्तु मुझमें ही स्वयं अपना अस्तित्व है जिससे कि मैं यह हूं। सो मैं द्रव्य अपेक्षासे स्वतन्त्र हूं, क्षेत्र अपेक्षासे भी स्वतंत्र हूं। मेरा जो आकार है, जब-जब जिस-जिस देहमें मैं गया उस-उस देहमें मुझे संकोच विस्तारका आकार प्राप्त होता रहा, छोटे शरीरमें गया तो छोटे आकार वाला होगया और बड़े शरीरमें गया तो बड़े आकार वाला होगया। सो यद्यपि कर्मोदयवश जिस शरीरमें यह जीव गया वैसेही परिमाण वाला बन गया, इतना होनेपर भी आत्मामें जो आत्माका क्षेत्र है, आत्माका प्रदेशवत्त्व है वह किसी दूसरेके आधीन नहीं रहा। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान हुआ करता है और उनका यह प्रदेशवत्त्व उनका स्वयं स्वरूपसे हुआ करता है। किसी दूसरेकी कृपापर नहीं चलता। ऐसा यह मैं नाना आकारोंमें, संसार अवस्थामें रहकर भी अपने प्रदेशमें ही रहा दूसरेके प्रदेशवत्त्वसे मेरा अस्तित्व नहीं चला, इस कारणसे क्षेत्रदृष्टिसेभी मैं स्वतंत्र हूं। भैया ! यों समझिये कि जो चीज होती है वह अपने स्वरूपसे अपना घेरा बनाये रहती है। वस्तु हैतो वह कितनेमें है ? अवगाह प्रत्येक पदार्थमें रहता है। तो ऐसा क्षेत्र, अपने प्रदेश सबके अपने आपके आधीन हैं, किसी दूसरेके क्षेत्रके आधीन नहीं हैं। शुद्ध आशय होनेपर तो आत्मा जिस आकारमें मुक्त होता है उस ही आकारमें अनन्तकाल तक रहता है। वहां अन्तर नहीं आता। अन्तर संसार अवस्थामें आता है। चींटीके देहमें गया तो चींटीके बराबर देह बना, हाथीके देहमें गया तो हाथीके बराबर देह बना, इतनेपर भी आत्माके प्रदेशोंमें आकारका जो परिणमन हुआ वह तो उसकेही स्वयंके अस्तित्वसे हुआ है। किसी दूसरेके कारण नहीं।

कालदृष्टिसे आत्माका स्वातन्त्र्य—जब हम इस आत्माको काल

पर्यायें परिणमनकी दृष्टिसे देखते हैं तो इसकी प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थायें बनती जाती हैं। देखिये आत्माके शाश्वत स्वरूपमें रुचि रखने वाले ज्ञानी पुरुषोंकी अवस्थापर दृष्टि नहीं होती। और, ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा निरखा गया स्वभावतः द्रव्य जो अंतस्तत्त्व है वह जब वर्णनमें आये तो कहा जाता कि अपरिणामी है, शाश्वत है, नित्य है, एकस्वभावरूप है। तो इस दृष्टिसे आत्मा नित्य है, एक है, एकस्वभावरूप है, अपरिणामी है लेकिन यह चर्चा यदि सर्वथाही लगायी जाय आत्मामें तो वस्तुका अभाव, आत्माका अभाव हो जायगा। कोई भी पदार्थ हो वह उत्पाद-व्ययसे बाहर नहीं है। भलेही वह एक आकाश अखण्ड व्यापक है जिसमें हम परिणमन क्या समझ सकते हैं? आकाशमें क्या बदल हुई, हम नहीं जानते हैं, लेकिन वस्तु अर्थात् सत्का यह नियम है कि यदि है तो वह अवश्यमेव अपने नये क्षणोंमें अपना रूप बनाये हुए है याने प्रति समयमें अपनी अवस्था बनाता हुआ रहता है। वह चाहे एकसी ही अवस्था हो जिसके कारण परिवर्तन विदित नहीं होता, लेकिन नये क्षणमें सत्त्वरूपसे रहना, अगले क्षणमें सत्त्वरूपसे रहना, इतनेपर भी वहां उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता आती ही है। इस आत्माके सम्बंधमेंतो अनुभव भी यह कहता है कि यह मैं जीव कभी सुखका वेदन करता, कभी दुखका वेदन करता। अनेक प्रकारके मैं अनुभव करता रहता हूं। तो आत्मामें परिणतियां हैं, चाल है, जब जो परिणमन होता है। जैसे कि वर्तमान समयमें मंद कषायरूप परिणमन है, क्रोध मान, माया, लोभ, इन चारों कषायोंमें से एक समयमें एक प्रकारकी कषाय होती है और वासनामें तो सब कषायें बनी रहती हैं, लेकिन प्रयोगात्मक परिणतिरूप एक समयमें एक जीवको एक कषाय होती है। जब क्रोध कषायका परिवर्तन चल रहा है तब [illegible] क्रोधरूप है। जब मान कषायका

बनाते।

आत्महितको महत्त्व देनेका विवेक—भैया! यह पक्का निर्णय किये बिना काम न चलेगा कि हमारा गुजारा, हमारी शान्ति, हमारा उद्धार तो एक अपने सहजस्वरूपको जानकर उसहीमें रमनेसे होगा, अन्य प्रकार न होगा। मेरा काम भी मात्र एक यही है। अपनेको जानूं, अपनेमें रुचि करूं और अपनेमें रहूं इसके सिवाय अन्य कोई दूसरी बात न सुहाये, यह बात गृहस्थीमें भी सम्भव होती है। ज्ञानी पुरुषका ऐसा चित्त होजाता, ऐसा उपयोग होजाता कि उसे धन वैभव आदिक अन्य वस्तुवोंमें महत्त्व नहीं दिखता। वह महत्त्व मानता है अपने आपके धर्मका, स्वरूपदर्शनका, स्वरूपमें रमनेका। जिनको यह बात नहीं सुहाती तो यों समझना चाहिए कि जैसे पुत्र प्रसव करने वाली माताके दुःखका अनुभव वंध्यास्त्री तो नहीं कर सकती इसी प्रकार ज्ञानी संतजनोंकी जहां दृष्टि लगी है, जिसे सार समझा है, जिसे शरणभूत माना है, उसके सिवाय अन्यत्र कहीं उसका उपयोग जमता नहीं। करना पड़ रहा, फिर भी जमता नहीं, उसका क्या अनुभव है, उसकी क्या स्थिति है, इस बातको मोही अज्ञानीजन नहीं समझ सकते हैं। सचमुच उस ज्ञानी गृहस्थ की भी इच्छा किसी बाह्य पदार्थमें नहीं है। जैसे कहते हैं कि अनाकांक्ष होता है ज्ञानी सम्यग्दृष्टि। निःकांक्षित अंग होता है। उसमें कोई भलेही यह शंका करे कि यदि दूकानपर बैठा है तो क्या वह इच्छा नहीं करता कि आज इतना लाभ होना चाहिए? भले ही इच्छा करता है मगर वह इच्छा अन्तः इच्छा ही नहीं है। जिसको यह निर्णय है, जिसको यह प्रतीति है कि करने योग्य काम तो मात्र एक यही है—आत्माके रत्नत्रयस्वरूपमें रमना, दूसरा काम जिसे सुहाता ही नहीं है, सम्यक्त्वके कारण जिसकी इतनी तीव्र लगन हुई है उस पुरुषमें इच्छा भी आये तो भी वह इच्छा उसके अंतः

प्रर नहीं कर सकी, इस कारण वह इच्छा इच्छा ही नहीं कहलाती। इच्छा होकरभी इच्छा नहीं है क्योंकि उसको महत्त्व नहीं देरहा है वह।

शीघ्र आत्मोत्थानके उपायमें लगनेमें बुद्धिमानी—भैया ! आत्मोत्थानकी बात इस भवमें बनालें तो भला ही भला है और न बना सके तो इसका फल बहुत कटुक है। समय बराबर नहीं मिलता। भला ऐसा मन, ऐसा देह, ऐसी बुद्धि, ऐसा समय, ऐसा देव, शास्त्र, गुरुका समागम ये सारी बातें इस मायामयी नाना दुर्गतियोंरूप, क्लेशमय संसारमें पा लेना कितना दुर्लभ है। इतनी दुर्लभ चीजें पाकर भी इनका महत्त्व नहीं आंक रहे, यह कितनी अज्ञानताभरी बात है। जैसे कोई गरीब पुरुष एक लखपती पुरुषके धनका महत्त्व तो कूत लेता है पर वह लखपती पुरुष धनमें तृष्णा होनेके कारण उस प्राप्त धनका महत्त्व नहीं कूत पाता, वह तो यही समझता है कि मेरे पास तो कुछ भी धन नहीं है, इसी प्रकार हम आपको आज मनुष्यभव मिला है, श्रेष्ठ समागम मिले हैं फिरभी अज्ञानतावश इन दुर्लभतासे प्राप्त समागमोंका महत्त्व नहीं कूत पाते। इस मनुष्यभवके महत्त्वको जब देवभी अंगीकार कर लेते हैं कि मनुष्यभव महान है तभी तो देखो—तीर्थ करके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण आदि सब कल्याणकोंमें और सब समयोंमें देव और इन्द्र किस प्रकारकी सेवा करते हैं। वे देव इस मनुष्यभवका महत्त्व जानते हैं। मुक्ति प्राप्त होती है तो इस मनुष्यभवसे। मनुष्यका मन सब संज्ञी जीवोंसे श्रेष्ठ कहा गया है।

स्वानदृष्टिसे आत्मस्वातन्त्र्य जानकर इस ज्ञानके सदुपयोगकी वार्ता—यहां अपने परिणमनके सम्बंधमें विचार करिये कि मैं कहां पर पदार्थों के द्वारा फंसा हूं ? किसी दूसरेने मुझे कहां वशमें किया है ? मैं स्वतंत्र हूं, मैं ही अज्ञानभावमें बहकर परपदार्थों में लगा

हूं। मैं अपनेको सम्हालूं तो अपने आपमें अपनी हद बना सकता हूं। मुझे तो अपना ही कार्य करना है। स्वयंके स्वरूपको निरखकर उसमें ही तृप्त बने रहना है। दूसरा काम मेरे करनेको पड़ा ही नहीं है। बाहरमें जो कुछ होता हो, होता उदयानुसार। किसी भी प्रकार हो, किसी भी बाह्य पदार्थकी परिणतिसे मेरा सुधार बिगाड़ बंधा हुआ नहीं है। मैंही अपने उपयोगमें अपनेको बुरे रूपसे बर्तता हूं तो अपना बिगाड़ कर लेता हूं और मैं ही अपने स्वरूपकी ओर बर्तता हूं तो अपना सुधार कर लेता हू। मैं बिगाड़ नहीं चाहता। बिगाड़में अनन्तकाल व्यतीत होगया। विषयकषायोंमें क्रोधादिक भावोंमें परिग्रहके लपेटमें बहुत समय व्यतीत होगया, मिला कुछ नहीं, मिलेगा कुछ नहीं। यह आत्मा अमूर्त अपनेही स्वरूपमें रत रहनेवाला शरीरको छोड़कर जब चल देगा तब एक अणुभी इसका साथ न देगा। ये धन वैभव, पुत्रपरिजन कुछभी काम न देंगे जिन्हें आज कल्पनासे अपना माना जारहा है। तो ऐसे असार अशरण संसारमें हम मौज मानकर बैठे हुए हैं और आत्मोत्थानके लिए कोई गहरी दिलचस्पी नहीं लेरहे हैं, कुछ गम्भीर चिन्तन नहीं कर रहे हैं तो इसका फल क्या होगा? मैं स्वतंत्र हूं, मैं बाह्य विकारोंसे बाह्य फंदोंसे, बन्धनोंसे हटकर सबको भूलकर एक अपने आपके स्वतंत्र स्वरूपको निरखूं तो निरख लूंगा। मुझमें बाधा देनेवाला कोई नहीं है। मैं ही बाधक बनकर दुःखी होता रहता हूं। मैं अपने [illegible] सम्हालूं तो मैं ही साधक बन जाता हू। मैं द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे, स्वतंत्र हू।

आत्माकी निश्चलता—मैं निश्चल हू। जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूपसे मैं कभी विचलित नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ निश्चल है। यदि पदार्थ निश्चल न होते तो आज दुनियामें कुछ न होता। सब शून्य होजाता। एक पदार्थ यदि दूसरे पदार्थमें अपना स्वरूप रखदे,

है।.जैसे—मानलो जलका स्वभाव ठंडा है तो जल कितना ही खौला हो, गर्म हो जानेपर भी और उस जलमें ठंड कहीं पायी न जानेपर भी जब स्वभाव दृष्टिसे सोचेंगे तो यह कहना होगा कि जल स्वभावसे ठंडा है। जैसे दर्पणके सामने बहुत बड़ी चीज रंग-बिरंगी उपाधि खड़ी हो तो वह सारा दर्पण रंगा प्रतिबिम्ब है। उस दर्पणमें किसी भी जगह कोई हिस्सा दर्पणका जैसा असली स्वरूप है उस स्वच्छताके रूपमें प्रकट नहीं है फिर भी स्वभाव तो स्वच्छताका है। उस रंग-बिरंग विकारसे रहित होनेका उसका स्वभाव है, इसी प्रकार आत्माका स्वभाव एक चैतन्य है, चेतना, चित्प्रतिभास। तो यह आत्मा चाहे कितनी ही विभाव परिणतिमें हो, जहां सारा ज्ञान ढकासा है, कथनमात्रका ज्ञान है। कषायोंसे सारा ज्ञान रंजित है, जिसका ठीक ठिकाना भी नहीं बन रहा है ऐसी विचित्र विभाव परिणतियोंके बीच भी स्वभावदृष्टिसे निरखा जाय तो कहना होगा कि यह स्वरूपसे, स्वभावसे निश्चल है। उसका जो स्वभाव है वह चलित नहीं हुआ। यदि स्वरूप चलित होजाय किसी परिस्थितिमें तो वस्तुका अभाव होजाता तथा वह वस्तु कभी भी अपने असली रूपमें न आ सकेगी यों यह ं विचित्र विभाव परिणतियोंके बीच भी स्वभावतः स्वरूपसे अपने असाधारण गुणसे निश्चल हूं।

आत्माकी निष्कामता—जगतके समागमोंको असार जानकर किसी भी जगह चित न रमनेके कारण स्वतः ही अपने आपके हितके लिए अपनी ज्ञानी संत पुरुष आत्मतत्त्वके सम्बंधमें चिन्तन कर रहा है कि यह मैं निष्काम हूं। काम, कामना—इच्छाका नाम काम है, कामना है और उपलक्षणसे समस्त विकारोंका नाम काम है। यह मैं आत्मा निष्काम हूं अर्थात् अविकारी हूं। किसी भी वस्तुमें वह ही मात्र एक रहता है, दूसरेका प्रवेश नहीं होता। य

सहजसिद्धस्वभाव है, अन्यथा सत्त्व नहीं रह सकता। तो मुझ आत्मामें क्या बना हुआ है, क्या शाश्वत है? यह एकमात्र चैतन्यस्वरूप। जो सत्त्व है सहज, किसीने बनाया तो नहीं, अनादिसिद्ध जिस पदार्थमें जो स्वभाव है वह पदार्थ उस स्वभावरूपमें है। इसके अतिरिक्त जो परका सम्बंध है अथवा परसम्बंधके कारण जो विकारभाव होता है वह मेरे स्वरूपमें, स्वभावमें नहीं कहा जा सकता। तो स्वभावदृष्टिसे देखनेपर विदित होता है कि मैं अविकारी हूं।

हितरूप निरुपाधि स्थितिकी साधिका निरुपाधि दृष्टि—देखिये—लोकमें अपने लिए हितरूप क्या चीज है, और पाने योग्य क्या तत्त्व है? वह है निरुपाधि स्थिति, उपाधिरहित, परद्रव्यके सम्बंधसे रहित। परद्रव्यके सम्बंधसे होने वाले प्रभावोंसे रहित जो आत्माकी सहज स्थिति हो बस वही निराकुल है, कृतार्थ है, सर्वकल्याणसम्पन्न है। उस स्थितिमें जो आत्मा पहुंचे हैं उन्हें कहते हैं सिद्ध प्रभु। तो जो निरुपाधि स्थिति है वही हितरूप है और वही पाने योग्य है। ऐसी निरुपाधि स्थिति मैं किस प्रकार पा सकूं, उसका उपाय क्या? उसका उपाय तब ही बन सकता है जब कि यह आत्मा निरुपाधि हो, अर्थात् मूलमें, स्वभावमें यदि निरुपाधि है तो निरुपाधि स्थिति बन भी सकेगी? अतएव निरुपाधि स्वभावकी दृष्टि करना उस शुद्ध दशाके व्यक्त होनेका कारण है। मैं यहां अपनेको मानूं कि जिस शरीरको पाया कि यह ही मैं हूं तो मेरा उपयोग शरीरमें फसा। मैं शरीररूप अपनेको अनुभव करता रहूं तो ये शरीर मिलते चले जायेंगे, और यदि यह भाव बना कि यह शरीर मेरे दुःखका कारण है, मैं शरीरसे न्यारा रहूं तो मुझे किसी प्रकारकी विपत्ति नहीं। मुझे तो शरीरसे न्यारा अपने आपके स्वरूप रहना है। यहां मान रहे शरीरको कि-

और चाहे कि मैं शरीरसे निराला अपने विकासमग्न हो जाऊँ तो यह असम्भव बात है। मुझे अभीसे यह दृष्टि बनानी होगी कि मैं शरीररहित केवल अपने चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ तब इस स्थितिको पा सकूँगा। तो निरुपाधि स्वभावका दर्शन करना यह शुद्ध दशा पानेके लिए सर्वप्रथम और अतिआवश्यक है। उसी प्रयोजनमें यह चिन्तन चल रहा है कि मैं अविकार हूँ।

दृष्टिमात्रसे सृष्टियोंका महाविधान—विकारोंको अपनानेसे, विकारोंको आत्मस्वरूप माननेसे विकारोंकी संतति बढ़ेगी और अविकारस्वरूप अपनेको माननेसे, अविकार स्वभावको अपनानेसे अविकारताका विकास होगा। तो आप यह देखिये कि मैं अपने आपके ही प्रदेशभरमें विराजा हुआ यहां ही सारी सृष्टियोंका प्रबंध बना लेता हूँ। जैसे कोई समर्थ अधिकारी अपने आफिसमें बैठा हुआ जहां कि अनेक तरहके यंत्र चल रहे हैं, किस कक्षामें कैसी पढ़ाई चल रही है उसका दृश्य देखनेका भी यंत्र लगा है। कहां कौनिक्स तरह पढ़ा रहा है वह सारी स्पीच सुननेका भी यंत्र लगा है और उनसे बोलने-चालनेका भी यंत्र लगा है, सारी सुविधायें हैं तो वह अपने ही कमरेमें बैठा हुआ सब तरहकी व्यवस्थायें बनानेमें समर्थ है। तो आत्माको तो कोई भी श्रम करनेकी आवश्यकता नहीं, केवल एक दृष्टिभर करनेकी आवश्यकता है। उस दृष्टिमें कहीं हल्ला नहीं, कहीं श्रम नहीं, केवल एक उपयोगके मुड़नेभरकी बात है। जिसपर हमारा सारा भविष्य निर्भर है—मैं कैसा बनूं, किस ढंगसे रहूं, ये सब बातें अपने आपकी दृष्टिपर निर्भर हैं। जहां अपने ही स्वरूपको निरखा, सबसे निराला ऐसा चेतनामात्र अपने आपके स्वभावमें जहां उपयोग गया वहां इसका परिणमन क्या बनेगा? सब कल्याणप्रद परिणमन बनेगा। जहां इसने अपनी प्रभुताका आश्रय तजकर बाह्य पदार्थोंमें उपयोग दिया वहां इसका

क्या परिणमन बनेगा? दुःखरूप, आकुलता रूप। तो देखलो—हमारा सारा भविष्य हमारी दृष्टिपर ही निर्भर है।

अपने भावमें अपना अन्तःनिर्णय—हमें अधिकाधिक यह यत्न करना चाहिए कि किसी भी प्रकार हो, ज्ञानी समागमोंसे वैराग्य हो और अन्तःस्वभावकी हमारी रुचि जगे। एक ही निर्णय है। सब कुछ हो जावे, मिटे बिगड़े, पर मेरे आत्मस्वभावकी दृष्टि मत बिगड़े। यदि यह डोर बिगड़गयी तब फिर परिणति पतंग ठिकानेमें नहीं है। यहां भाव ऐसा निकल आना चाहिए अपनेमें आपमें कि जिसमें किसी भी परिस्थितिमें चलितपना न हो सके। प्रतीति होती है अनुभूतिके बाद। किसीको भी सम्बन्धमें उसका पूर्ण विश्वास बनता है उसका अनुभव प्रत्यक्ष होनेके बाद। और, अनुभव बननेसे पहिले एक साधारणतया प्रतीति भी होती है। आत्मा कैसा है इसकी निरन्तर प्रतीति बनी रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम एक बार आत्माकी अनुभूति बने। किसी मनुष्यको देखो—किसी मनुष्यसे बोलचाल व्यवहार किए बिना, बहुत दिन तक परखे बिना उसकी प्रतीति तो नहीं हो पाती, इसी प्रकार आत्माको बहुत दिनों तक बातोंसे परखा और फिर कभी अनुभूतिसे परख लिया तो उसके बाद उसकी प्रतीति अडिग हो जाती है। सम्यक्त्व जिस क्षण उत्पन्न होता है उस क्षण अनुभूतिको लेकर उत्पन्न होता है। उसके बाद फिर भी अनुभूति बननेपर प्रतीति सदा रहा करती है। तो हम अपनी श्रद्धामें यह बात लाय कि मेरा अन्य सब कुछ भी न्योछावर हो जाय, पर किसी भी प्रकार मुझे अपने आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव बने। यही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरे लिए सार और शरण नहीं है।

आत्माका ज्ञान दर्शन स्वरूप—मेरा स्वरूप है चेतन। चेतनमें

क्या होता ? चेतना, प्रतिभास। प्रतिभास-सामान्य-विशेषात्मक होता है। जैसे दर्पणमें है स्वच्छता। अब वह स्वच्छता सामान्य-विशेषात्मक है। यदि दर्पणमें कभी प्रतिबिम्ब न आये तो हम कैसे विश्वास कर सकें कि दर्पणमें स्वच्छता है, और, दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया, जो स्वच्छताका व्यक्तिकरण बना, वह इस ही आधारपर बना कि दर्पणमें स्वच्छता साधारण रूपसे निरन्तर बनी रहती है। हम चेतते हैं और हमारी चेतनामें ये सब पदार्थ ज्ञात होते हैं। इसका ज्ञान होता है तो इन सब पदार्थोंका ज्ञान तभी तो हुआ जब मुझमें एक साधारण प्रतिभासकी भूमिका है वह तो है दर्शन और जो एक विशिष्ट प्रतिभास है, बोध है, जो मेरा साकार रूप है वह है ज्ञान। मैं निरन्तर जानता हूं और देखता हूं। ज्ञान और दर्शन इन दोनोंका काम मुझमें निरन्तर चलता रहता है। छद्मस्थ अवस्थाके कारण उपयोग दोनोंका एक साथ नहीं हो पाता। उपयोग दोनोंका एकसाथ होता सिद्ध अवस्थामें, सर्वज्ञ अवस्थामें। लेकिन ज्ञान, दर्शन, गुण ये मेरे निरन्तर चल रहे हैं। दर्शन निरन्तर न चले तो ज्ञान कहां विराजे ? ज्ञान निरन्तर न चले तो मेरा रूप ही क्या रहा ? मेरा काम जानना देखना है, इसके अतिरिक्त अन्य काम मेरा नहीं है।

ज्ञाता द्रष्टा रहनेके विरुद्ध विचारमें आपत्ति—भैया ! जिन किन्हीं भी दो-चार जीवोंको मानलिया कि ये मेरे हैं, ये मेरे घरके हैं, यह तो विपदा है, विडम्बना है, व्यामोह है ऐसा मान लेना और ऐसा राग-रंग बननेमें बना रहना यह मेरा स्वरूप नहीं। मेरा काम नहीं। मेरा विशुद्ध कार्य है जानना देखना। जानने देखनेमें कोई आपत्ति नहीं। आपत्ति आती है तो राग-विरोधके भावोंमें, इष्ट अनिष्टके भावोंमें आती है। तो ये इष्ट अनिष्ट भाव मेरे स्वरूप नहीं। मेरा स्वरूप है जानन देखन। जानता हूं ज्ञानस्वभावसे और

देखता हूं दर्शनस्वभावसे। दर्शनका अर्थ आंखोंसे दिखना नहीं, जो आंखोंसे दिखता है वह तो ज्ञान है। इसे दर्शन नहीं कहते। जैसे कर्ण-इन्द्रियसे जो जाना वह ज्ञान है, नासिका-इन्द्रियसे जो जाना वह भी ज्ञान है, स्पर्शन, रसना-इन्द्रियसे जो जाना सो ज्ञान है, इसी प्रकार चक्षु-इन्द्रियसे भी जो जाना सो ज्ञान है, जिसमें न कोई व्यक्तिगत चीज आयी, न आकार आया, न व्यक्ति आया, न अवस्था आयी, ऐसा जो सामान्य प्रतिभास है उसको दर्शन कहते हैं। यह दर्शन हम आपके चल रहा है निरन्तर, किन्तु उनका उपयोग क्रमसे चलता है। दर्शन, फिर ज्ञान, फिर दर्शन, फिर ज्ञान।

बाह्य पदार्थोके आकर्षणात्मक ज्ञानोपयोगकी धुनमें दर्शनोपयोगके लाभसे वंचितपना —भैया! उस दर्शनकी पकड़ यदि होजाय, जैसे हम ज्ञानकी पकड़ कर लेते हैं, यह है जानकारीमें, तभी तो ज्ञान उपचरित भी होजाता है, तो जैसे—हम ज्ञानकी पकड़ कर सकते हैं इस तरह यदि दर्शनकी पकड़ होजाय तब तो बेड़ा पार है। हम लोगोंके दर्शन होता तो रहता है मगर पकड़ नहीं हो पाती। ग्रहण हो तो अनुभूति जगे। जैसे—किसी धनार्थी पुरुषको किसीने बता दिया कि देखो—अमुक पहाड़पर इतने कंकड़-पत्थर पड़े हैं उनमेंसे कुछ पारस-पत्थर भी हैं, यदि पारस-पत्थर तुम्हारे हाथ लग जायगा तो तुम जितना चाहे लोहेका सोना बनाकर धनी होजावोगे। तो वह धनार्थी पुरुष पहुंचा उसी पहाड़पर। वहां दसों गाड़ी पत्थर लेकर उसने क्या किया कि समुद्रके किनारेपर एक लोहेका मोटा डंडा गाड़ दिया, और पत्थर मारकर देखे। यदि वह लोहेका डंडा सोना नहीं बना तो उस पत्थरको उठाकर समुद्रमें फेंक दे। यों ही वह बार-बार करता गया, पत्थर उठाया, मारा, फेंका। अब वहां लाखों पत्थरोंमेंसे कोई एक

उसकी धुन ऐसी तेज बन गयी कि सब पत्थर उठाया, मारा और फेंका। इसी धुनमें वह पारस-पत्थर भी उठाया, मारा और फेंका। उसके बाद देखा तो वह लोहेका डंडा सोना बन गया था। अब वह पछताता है। हाय ! मैंने तो पारस-पत्थर पाकर भी खो दिया। इसी तरहसे हमारे ज्ञानोपयोगकी धुन ऐसी तेजीसे लग रही है परपदार्थोंमें, उपयोग हमारा ऐसा भ्रमण कर रहा है कि प्रत्येक ज्ञानोपयोगसे पहिले दर्शनोपयोग होता रहता है लेकिन उस धुनमें दर्शनोपयोगके समय जो विश्रांति पा लेनी चाहिए वह पा नहीं सकते।

आत्माका विशुद्ध कार्य—आत्माका विशुद्ध कार्य जानन-देखन है। ज्ञाता द्रष्टा परिणमनसे आगे बढ़ें तो इसके मायने हैं कि हम भगवानसे आगे बढ़े। जो काम भगवान नहीं कर सके उस कामको करनेकी हमने कमर कसी। तो जो बड़ेसे बड़े बन जायेंगे वे भी गिरेंगे, भ्रमण करेंगे। ये मोही जीव बाह्य पदार्थोंके आश्रयमें प्रभुसे आगे बढ़ना चाहते हैं। प्रभु तो ज्ञाता द्रष्टा हैं। ये मोही जीव ज्ञाता द्रष्टा न रहकर राग द्वेष मोहमें बढ़ रहे हैं। जैन शासन प्राप्त करनेका वास्तविक लाभ उठाना तो यह कहलायगा कि जिस किसी भी प्रकार हो हम अपनेको सबसे निराला केवल चैतन्य-स्वरूपमात्र अनुभवमें लायें। यह बात बन सकी तो यह जीवन सफल है। और, यह बात न बन सकी तो जैसे अनन्त जीवन पाये वैसे ही यह एक मानव-जीवन भी है। ऐसा स्वतंत्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा मैं आत्माराम हूं।

आत्माराम—इस मुझको आत्माराम शब्दसे कहनेकी प्रसिद्धि क्यों हो गयी है। यह आत्मा भी है व राम भी है। आत्मा कहते उसे हैं—अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा, जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते हैं। क्रोध करे तब भी जानता है

मान करे तब भी जानता है, माया, लोभ आदि करे तब भी जानता है। यों निरन्तर जानते रहने वाला मैं आत्मा हू। और, राम हूं। रमन्ते योगिन अस्मिन् इति रामः। जहां योगीजन रमण करते हैं उसे राम कहते हैं। योगीजन, साधुजन कहां विश्राम पाते हैं? एकान्त निर्जन स्थानमें। किस कारण वे सन्तुष्ट रहा करते हैं? उन्हें अपने आत्माके उस शुद्ध स्वभावसे भेंट हुई है जिसके निकट रहनेमे कभी ऊब नहीं आती, और निरन्तर प्रसन्नतासे रहा करते हैं। ऐसा यह मैं आत्माराम हू। अपने आपके अन्तस्तत्त्वका प्रशंसन करना कीर्तन कहलाता है। मैंने सब कुछ कीर्त डाले, पर आत्माके अन्तस्तत्त्वके स्वरूपको कभी नहीं कीर्ता। अब अपने हितके लिए भावना जगी है तो यही एक मेरा काम है कि मैं आत्माके उस सहज स्वरूपको दृष्टिसे ओझल न होने दूं, सदैव प्रतीति में रखूं।

मैं वह हू जो हैं भगवान। जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी ज्ञान। वे विराग यह रागवितान ॥१॥

उपास्य और उपासककी निरन्तरताका कीर्तन—आत्माके कीर्तनमें, अन्तरतत्त्वकी रुचिमें यह ज्ञानी विचार कर रहा है कि मैं वह हूं जो भगवान हैं। इस तथ्यको द्रव्य दृष्टिसे निहारना है, जैसा कि स्वतंत्र निश्चल निष्काम शुद्ध ज्ञायक भावस्वरूप आत्माकी बात कही गई थी उस ही स्वरूपसे देखना है। मैं वह हू जो भगवान हैं। भगवानका नाम परमात्मा है और हम आप सबका नाम आत्मा है। जो आत्मा परम हो जाते हैं उन्हें परमात्मा कहते हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मत्वके नातेसे हमारी और भगानकी जाति एक है, और इसी कारण हमारे स्वरूपमें और प्रभुके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है।

सांसारिक सुखोंकी विडम्बना—संसारके सुख सब इस

तमें हो चुकी, जो पर्याय भविष्यमें होगी वे अब नही हैं लेकिन द्रव्य यदि केवल वर्तमान पर्यायमात्र ही समझूं तो वहां अत्यन्त णिकपना आ जाता है। मैं सर्वथा क्षणिक नहीं हूं, शाश्वत हूं। दि मैं क्षणिक होऊं तब फिर कल्याणकी आवश्यकता क्या है? हूं, मिट गया, आगे रहूंगा नहीं। तपश्चरण करके अपने आपको वकल्पित करूं, दुःखी करूं और उसका फल भोगेगा कोई दूसरा त्मा तो ऐसा करनेको कौन चाहेगा? मैं शाश्वत हूं, मेरेमें त्यभिज्ञान होता है। मैं वह हूं जो कल था, मैं अनेक वर्षोंसे हूं। वही हूं और जब अनेक वर्षोंसे हूं, हूं तो सदासे हूं सदा काल क रहूंगा। अपने आपके हितकी अभिलाषा रखना यह अपने मुनिश्चितव्यकी बात है।

: अन्तः सर्वमपूर्वक भगवत्स्वरूपकी आराधनासे लाभ—अब भगवानको व्य गुण पर्याय रूपसे निरखिये। कैसे हम भगवानको जानें कि भु क्या है? प्रभु पर्यायतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिके स्वामी हैं और ऐसी बात हम आपमें भी [illegible] जैसा मैं हूं तैसा ही अपनेको अपनी [illegible] रूपसे जरा भी हिलू-डुलू नहीं। तो [illegible] स्वाद सकेंगे। निराकुलता हमारी कहीं [illegible]ई नहीं है, पर हम ही जब अपने आपके संयममें नहीं रहते, अपने आपके स्वरूपमें नहीं रहना चाहते तो अपने ही ऊधमसे, अपनी ही उद्दण्डतासे दुःखी होते फिरते हैं। पर वस्तुओंसे मोह किया तो उससे लाभ क्या? क्या वियोग न होगा? न वियोग हो [illegible] जब तक संयोग है तब तक भी वह मेरा कुछ नहीं है। जब [illegible]क समागम है तब तक भी मेरे क्षोभके ही तो कारण हैं, पर शान्तिके कारण नहीं हैं। क्षोभ राग और द्वेषको कहते हैं। केवल द्वेषका नाम क्षोभ नहीं है। जिस रागमें मौजमें हम मस्त रहते

हो क्या रहा है ? अपना प्रभु अपनी निगाहमें नहीं है, सो आकुलित होते जारहे हैं। और यह क्षोभ तो ऐसा कठिन है कि आकुलित भी होते और यह अनुभव नहीं करते कि हममें दुःख है, आकुलता है राग और मोहसे। ऐसा दुःख है कि दुःखी भी होते जाते और हटना भी नहीं चाहते। द्वेषका, विरोधका, अनिष्ट समागमका तो क्लेश ऐसा है कि उसमें कुछ सावधान तो रहते हैं, जानते तो हैं कि इनसे हटना चाहिए, मगर रागका मोहका ऐसा कठिन क्लेश है कि दुःखी भी होते जाते हैं और उससे हटनेकी बात दिलमें नहीं आती। तो संसारका ऐसा स्वरूप जानकर जिन पुरुषोंने भोगोंसे, विषयोंसे, समागमोंसे, वैभवोंसे उपेक्षा करके अपने आपके अन्तः स्वरूपमे अपने स्वभावको निरखा है ऐसे पुरुषोंने निर्ग्रन्थ साधु बनकर अपने आत्मामें आत्माको लगानेकी तपस्या बराबर रखकर शुद्धि प्राप्त की और वे वीतराग अरहंत हुए। उन्हींका नाम भगवान है।

अन्तर्भावमें प्रभुताके दर्शनका अवसर—भैया ! अनेकोंको अपने आपके हितकी बात रुचनी कितनी कठिन लग रही है, यह सब व्यामोहका प्रताप है। हमारा सत्संग उतना अधिक नहीं है। हम आत्मचर्चा आत्मध्यानके लिए उतना नहीं लगा करते हैं, इसका फल यह है कि कुछ थोड़े समयका धर्मध्यान यह भी ऊपरी तौरसे रह जाता है, चित्तमें ठेस नहीं पहुंच पाती कि मेरेको करनेका काम केवल इस जीवनमें स्वरूपरमणका है, अन्य कोई काम मेरे करनेको नहीं है। इस प्रकारकी तीव्र रुचि नहीं जग पाती। फल क्या होता है। जिन भोगोंके लिए हम अपने आपको धनी बनाना चाहते हैं, जिन भोगोंकी रुचिमें अपने आपको महा जपानेके लिए विद्या पढ़ना चाहते, अन्य-अन्य उपायोंके काम करना चाहते वे मायारूप हैं। न वे रहेंगे और न हम तरहका भ्रम करने वाला

है ? जो बात केवल विचारद्वारा साध्य है, केवल ज्ञानद्वारा साध्य है और जिसका फल इतना अलौकिक है कि जगतकी जितनी बड़ी विभूतियां हैं वे सब इस धर्मके प्रसादमें मिलती हैं अर्थात् मुक्ति-मार्गकी भावना करते हुए जो राग शेष रहता है उसका फल यह है कि चक्रवर्ती जैसी बड़ी-बड़ी विभूतियां प्राप्त होती हैं, तो भला जो मात्र ज्ञान द्वारा ही साध्य है, जिसमें कोई कठिनाई नहीं है, किसी प्रकारकी पराधीनता नहीं है स्व है, स्वके लिए विचारना, स्वमें चिन्तना चलाना, जो किसीके आधीन नहीं है, ऐसा स्वाधीन सुगम ज्ञानमात्र भी काम न किया जाय और अतुल अलौकिक लाभसे वंचित रह जायें तो इस गल्तीका फल भोगने कौन आयगा ? सर्वसमृद्धियां केवल ज्ञान द्वारा साध्य हैं। जानकारी बनानेमें कठिनाई क्या आती है ? जो बात सामने है उसको हम वैसी सही जानलें तो इसमें कौनसी कठिनाई आती है ? जरा बाह्य पदार्थोंसे अपने दिलको हटाकर थोड़ा ही समझना है कि यह मैं क्या हूं ? तो इसकी जानकारी क्या कठिन हो जायगी ? सुगम है जानकारी, पर चित्तमें ऐसी दृढ़ता आये कि मुझे तो अपने आपके स्वरूपको ही जानते रहना है, तब यह सम्पन्नता मिलेगी।

निशंकितवृत्तिसे आत्मस्वरूपज्ञानमें लगनेकी आवश्यक्ता—स्वरूपको जानेंगे तो फिर बाहरी काम कैसे बनेंगे ? यह दुकान, ये घरके लोग, इनका पालन-पोषण इन सबको कौन करेगा ? ऐसी शंकित मत बनाओ। अरे जो पुरुष ऐसी भावना बनाये हुए हैं। कि [illegible]से ही ये घरके लोग पलते-पुसते हैं, मेरे करनेसे ही ये [illegible] यह दुकान, ये सब चल रहे हैं उनमें इतनी पात्रता नहीं [illegible] आपके स्वरूपका दर्शन कर सकें और अपने जीवनको [illegible]है। जो इस [illegible] आनन्द पानेके लिए प्रयत्न करता [illegible] है जितने लोग हैं वे सब अपना-

है उससे यह स्वयं लाभ ले लेगा। दूसरोंको समझानेके लिए बड़ा भाषण करना भी दूसरोंके लिए चाहे लाभदायक हो जाय, पर वयके लिए क्या लाभ पाया ? यदि स्वयं एक इस सभाके रूपमें अथवा जब कभी भी कुछ बोला जारहा हो उस बोलको स्वयं भी सुनकर स्वयं अपने आपमें अपने हितकी बातको निरखता जाय और अपने लिए उस कर्तव्यको करता जाय तो वह भी लाभ पायगा। जो करेगा सो लाभ पायगा। और जो इससे विमुख रहेगा वह संसारमें रुलेगा।

प्रभुवत् अन्तर्धर्मके अनुसरणका कर्तव्य - जो प्रभुने किया वही मुझे करना चाहिए, अन्यथा प्रभुकी भक्ति क्या ? प्रभुसे द्वेष करने जायें और चित्तमें यह बात न लायें कि प्रभु ! कर्तव्य तो मेरा भी यही है जो आपने किया। क्या किया आपने ? विषयभोगोंको असार भिन्न समझकर उनसे उपेक्षा करके इन्द्रियोंपर विजय पाकर मनको भी काबूमें रखकर जो आत्माका निरन्तर उपयोग बनाया है उससे आपने अपने आत्मामें प्रतिष्ठा पायी है। यह ज्ञानस्वभाव अमूर्त है। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, केवल ज्ञानमात्र चित्स्वभावमात्र, जिसकी अगर दृष्टि मिल जाय तो उस दृष्टिमें फिर अन्य कल्पनायें नहीं रहतीं। ज्ञानमात्रोपयोगीके अन्य कल्पनाओं का क्या काम ? उस दृष्टिमें तो निर्भार एक चित्प्रकाश ही रहा करता है। ऐसे अमूर्त चित्प्रतिभासमात्र इस अमूर्तका दुनियामें कुछ है भी क्या ? कैसे कोई हो सकता है ? मूर्तका भी मूर्त कुछ नहीं हो सकता, फिर अमूर्तका कोई क्या होगा ? कैसे होगा ? कैसे लगेगा ? तो इस ज्ञानमात्र अमूर्त मुझ आत्मपदार्थका दुनियामें कहीं कोई न रक्षक है न हितू है न कोई सुधार कर सकने वाला है। वह तो मात्र मैं अपने आपके अमूर्त चित्स्वरूपको समझूं तो मेरा कल्याण है। इसके अतिरिक्त और धर्ममें प्रारम्भमें कार्य ही क्या

है ? जो बात केवल विचारद्वारा प्राप्त है, केवल ज्ञानद्वारा प्राप्त है और जिसका फल इतना अलौकिक है कि उसकी जितनी बड़ी विभूतियाँ हैं वे सब इस ज्ञानसे मिलती हैं क्योंकि मुनि-जनोंकी साधना करते हुए जो ज्ञान होता है उसका फल यह है कि सबकी ऊँची बड़ी-बड़ी विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, तो ऐसा जो ज्ञान ज्ञान द्वारा ही प्राप्य है, जिसमें कोई कठिनाई नहीं है, किसी पदार्थकी आवश्यकता नहीं है वह है, अपने निज विचारका, अपने चिन्तनका, जो किसीके आधीन नहीं है, ऐसा स्वाधीन सुगम ज्ञानमात्र भी काम न किया जाय और अनुपम अलौकिक आनन्दसे वंचित रह जावें तो इस मूर्खताका फल भोगने कौन आयगा ? सर्वसमृद्धियाँ केवल ज्ञान द्वारा प्राप्य हैं। ज्ञानकारी बनानेमें कठिनाई क्या आती है ? जो बात सामने है उसको इस ढंगसे सही जानें तो इसमें कौनसी कठिनाई आती है ? जरा बाह्य पदार्थोंसे ध्यान हटाकर थोड़ा ही समझना है कि यह मैं क्या हूँ ? तो इसकी जानकारी क्या कठिन हो जायगी ? सुगम है जानकारी, पर जिसमें ऐसी रुचि आवे कि मुझे तो अपने आपके स्वरूपको ही जानते रहना है, तब यह सफलता मिलेगी।

निर्विकल्पस्थिति प्राप्तकरनेमें सहयोगी भावना—स्वरूपको जानेंगे तो फिर बाहरी काम कैसे करेंगे ? यह दुकान, ये घरके लोग, इनका पालन-पोषण इन सबको कौन करेगा ? ऐसी शंकित वृत्ति मत बनाओ। अरे जो पुरुष ऐसी भावना बनाये हुए हैं कि मेरे करनेसे ही ये घरके लोग पलते-पुसते हैं, मेरे करनेसे ही ये कारोबार, यह दुकान, ये सब चल रहे हैं उनमें इतनी पात्रता नहीं है कि वे अपने आपके स्वरूपका दर्शन कर सकें और अपने जीवनको सफल कर सकें। जो इस आत्मीय आनन्द पानेके लिए प्रयत्न हैं उनमें ये सारी प्रतीतियाँ हैं। घरके जितने लोग हैं वे सब

और जितना यत्न बन सके उसपर अपनी दृढ़ता रखना है। यदि यह काम न हो तो आप समझ लीजिये कि हम कितना उल्टा रास्ते पर चल रहे हैं।

भगवत्स्वरूप स्मरणका प्रयोजन—भगवानके स्वरूपकी याद किसलिए की जारही है ? इसीलिए की जारही है कि मुझे अपने स्वरूपकी याद आजाय और मेरा भी उच्च विकास हो सकता है, दुःखोंके लिए संकटोंसे छुटकारा हो सकता है, ऐसा उत्साह बने, ऐसा हमारा प्रयत्न बने, इसके लिए भगवानकी भक्ति है, भगवानका स्मरण है, मैं वह हूं जो भगवान है। ऐसा भीतर ही भीतर शाश्वत चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि जायगी यहां और प्रभुस्वरूपके भीतर भी, तब विदित होगा कि इस शाश्वत चैतन्यस्वभावकी समानता लेकर यह कहा जारहा है कि मैं वह हूं जो है भगवान। मजाकमें यह कह सकते हैं लोग कि हम भी भगवान होगए। अरे भगवानके स्वरूपमें जो पाया जारहा है उस स्वरूप तक निगाह रखोगे तो पता पड़ेगा कि मुझमें भगवत्स्वरूप बसा हुआ है, किन्तु जैसे कोई यह बात सुनले कि दूधमें दही है और वह यह मजाक करने लगे कि यह दूध भी घी बन गया। अरे समझने वाले लोग जानते हैं कि दूधमें घी है और परख लेते हैं कि इस दूधमें छटाक प्रतिसेर घी है और इस दूधमें डेढ़ छटाक प्रतिसेर घी है, ऐसा लोग परख लेते हैं और उपाय करते हैं। और, उपाय द्वारा वे प्राप्त कर लेते हैं। दूधमें घी

समझकर कोई यहाँ यह मजाक करने लगे कि यह मैं भगवान होगया, तो ये अपना ही मजाक कर रहे हैं, अपनेको ही भ्रममें और मायाजालमें जन्म-मरणके गर्तमें पटक रहे हैं। अरे भगवान निरखनेकी विधि होती है।

अन्तः संयमन विधि—मैं किस पद्धतिसे अपनेको ले जाऊं कि मैं अपने आपके भगवानस्वरूपका अनुभव करूं। मेरेमें स्वानुभव है जहाँ भगवत्स्वरूपका अनुभव किया जारहा है। तो द्रव्यदृष्टिसे पर्यायोंकी अपेक्षा न रखकर समस्त भेदज्ञानोंसे भी हटकर अपने आपके स्वरूपमें जब विशुद्ध चित्सामान्यका उपयोग किया जाता है, उसे उपयोगको हम समझ लेते हैं, अनुभव कर लेते हैं कि यह है परमात्मतत्त्व स्वरूप। अब व्यर्थ के जालोंसे हटना है और अपने आपके मुक्तिमार्गमें लगना है, इसीसे ही मेरा भला हो सकेगा, अन्य बातोंसे भला नहीं हो सकता। मैं वह हूं जो भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान। पहिले तो भगवानके अन्तः स्वरूपको निरखकर अपने आपका परिचय किया और अब अपने आपके अन्तः स्वरूपको निरखकर भगवानके अन्तः स्वरूपका परिचय किया। बात यद्यपि एकसी है इस दृष्टिमें, लेकिन जिसको, जिसमें सुगमता बैठे वैसा करे। अपने स्वरूपका परिचय पाकर भगवान स्वरूपका परिचय पायें यह भी ठीक है। भगवानके स्वरूप परिचय पाकर अपने आपके स्वरूपका परिचय पायें यह भी ठीक है लेकिन ये दो रास्ते बिल्कुल पृथक्-पृथक् नहीं हैं। दोनों ही बातें प्रत्येक बातमें पायी जाती हैं। केवल एक मुख्यता और गौणताकी बात है। जो पुरुष अपने स्वरूपका परिचय पाकर भगवानके स्वरूपका परिचय पा रहा है, उसे भी भगवानका परिचय उपाय प्रयोग करने लेनेसे पहिले भी था। जो पुरुष भगवानके स्वरूप परिचय पाकर अपने स्वरूपका परिचय पा रहा है उस पुरुषको

ज्ञानस्वरूप परिणमते रहते भी अपने आत्माके स्वरूपका परिचय न था। केवल एक दुःख भोगनेका काम है। इस ही परिस्थितिमें से किसी भी पद्धतिको अपनावें, अपने ज्ञानस्वरूप और प्रभुके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। अतएव ज्ञानीका यह निर्णय है कि "मैं वह हूं जो है भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान।"

ज्ञानस्वरूपमें प्रभुस्वरूपकी एकता— मैं वह हूं जो है भगवान, और जो मैं हूं वह भगवान है, ऐसा निर्णय करनेका परिणाम यदि यह न निकले कि मैं अपने सहज शुद्ध ज्ञानस्वभावको निरखकर मैं इस ही में तृप्त रहा करूं, यदि ऐसी धुनकी प्रेरणा नहीं मिलती और न ऐसा होनेका भाव बनता है तो मैं भगवान हूं। 'भगवान हूं' यह कहना केवल मजाक जैसा है, अथवा लोगोंमें अपना बड़प्पन बनाना है। भगवत्स्वरूपको जानकर भगवानका परिणमन स्वभावके अनुरूप है, पर परिणमनके द्वारसे भी भगवानके उस चैतन्यस्वभाव तक पहुंचकर चूंकि चैतन्यस्वभावमें वह उपयोग पहुंचनेमें व्यक्ति छूट जाता है और वह उपयोग साधारण रह जाता है सो स्वयंमें स्वरूपका वह उपयोग करने लगता है और उस समय जो इसे सहज ज्ञानस्वभावके दर्शन हुए उसको निरख-निरखकर उसमें लीन होनेका जो इसने उत्साह बनाया उसका आनन्द पाता हुआ यह ज्ञानी अपना दृढ़ निर्णय बना लेता है कि इस जीवनमें जीकर करनेका काम बस एक यही है, दूसरा कोई काम ही नहीं है जिससे कि हमारा जीवन सही जीवन कहलाये। अन्य बाह्य पदार्थ विषयक जितने कार्य हैं वे सब कार्य अत्यन्त असार हैं, जिनमें सारका नाम भी नहीं है। क्या है? सिवाय ६ कामोंके और क्या काम हो सकता है? ५ इन्द्रियके ५ विषय और एक मनका विषय। सिवाय ६ के और दुनियामें कार्य ही क्या हो सकता है? ये सब असार हैं। सार मात्र सहज-

परमात्मतत्त्वका दर्शन, प्रत्यय व अनुभवन है।

सर्व आत्माओंमें कारणपरमात्मतत्त्वकी समानता—जब स्वभाव-दृष्टिसे अपने आपको निरखते हैं तो आत्मा व परमात्मामें कोई भेद नजर नहीं आता। और, समस्त जीवोंको भी देखते हैं तो सब जीवोंमें और अपनेमें भी भेद नजर नहीं आता। देहके भेदसे जीवमें भेद हुआ ऐसा उस ज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं है। सर्व जीवोंमें यह सहज कारणपरमात्मतत्त्व शाश्वत प्रकाशमान है। इसको कारणपरमात्मा शब्दसे यों कहते हैं कि परमात्मत्वकी व्यक्ति इस ही स्वभावसे होती है। जैसे घड़ा मिट्टीसे बनता है। कोई यह कहे कि घड़ेका कारण मिट्टी है और कोई यह कहे कि घड़ेका कारण मिट्टी [illegible] जो इन दो [illegible] वाली [illegible] की ज [illegible] नहीं ? है, पर उससे घड़ा बन सकेगा क्या ? उसकी कुछ सम्भावना नहीं है, लेकिन घड़ा बननेकी शक्ति उसमें भी कही जायगी, क्योंकि वह उस जातिका द्रव्य है। जिस जातिकी मिट्टी यहाँ है, और उसके प्रयोगसे घड़ा बनते देखा गया है। तो जब उस ही जातिकी मिट्टी मेरुपर्वतके जड़के नीचे है, तो क्यों नहीं घड़ा बननेकी शक्ति है ? और, यहांकी जो स्थानमें या कहीं मिट्टी है उसमें भी घड़ेका कारणपना है, तो इसी प्रकार जो वीतराग अवस्था है, १२वें गुण-स्थान वाली अवस्था है वह तो है समुचित उपादानभूत कारण परमात्मा और सभी जीवोंमें जो बसा हुआ अनादि अनन्त अन्तः प्रकाशमान चैतन्यस्वभाव है वह है ओघ उपादानरूप कारण परमात्मा।

आत्मोपादानकी विशिष्टता—भैया ! अन्य पदार्थोंसे उपादान

पानी तुलना होनेपर भी एक विशेषता प्रगम और है यहां, जो उन पुद्गलोंमें नहीं पायी जाती। पुद्गलमें तो कार्य अवस्थायें बाहरी कारणकलाप अनेक मिल करके होती हैं। मिट्टीमें स्वयंमें अपने आप ऐसी बात नहीं है कि यह निमित्तकारणकलापके सन्निधान बिना अपनेमें घड़ा पर्याय बनाले, अर्थात् निमित्त कारणसंयोग बिना बन सके सो बात नहीं है। लेकिन, इस आत्मामें ऐसी सामर्थ्य है कि अपने आपमें अनादि अनन्त बसे हुए कारणपरमात्माका आलम्बन करें, दृष्टि करें तो यह कार्यपरमात्मा प्रकट होजाता है। पुद्गलके कार्यमें और आत्माके इस कार्यपरमात्माके होनेमें अन्तर भी बहुत है। पुद्गलकी दशायें एकबार कोई शुद्ध होकर भी अशुद्ध होजाती है पर आत्माकी अवस्था एकबार शुद्ध होनेपर अशुद्ध नहीं होती। पुद्गलकी दशायें कुछ भी हों, अचेतन होनेके कारण उसमें उत्कृष्टता नहीं है, और इस चेतन आत्मामें चेतनेके कारण उत्कृष्टता है। यह सर्वज्ञ बनता है।

उत्कृष्टतासे उत्कृष्ट और सुगम कार्यमें बाधा—समझलो भैया! इतना बड़ा उत्कृष्ट कार्य है भगवान बनना, कार्यपरमात्मा होना, ऐश्वर्यवान होना, और उसकी कुञ्जी इतनी सुगम है कि बस विकल्पोंको छोड़कर अपने आपमें नित्य अन्तः प्रकाशमान सहज

वैभवमें, लोगोंके बीच इज्जतके बनानेमें। कंचन, कामिनी और कीर्ति इन तीनमें सबकी बात आ जाती है। कंचनमें सारे वैभव लगालो, कामिनीमें सभी काम लगाओ, स्पर्शन इन्द्रियां और सभी इन्द्रियोंके विषय और कीर्तिमें मनकी बात लगाओ। इन्हींमें उलझे हैं, और स्वयं जो कुछ है सहज, उसका अवलोकन नहीं करना चाहते, तो यह इस जीवके लिए कितनी विषाद वाली बात है। तो यह कारण परमात्मस्वरूप, यह सहज चैतन्यस्वरूप सर्वत्र एक है, एक समान है; एकरस है, पर्यायकृत अन्तर होगया है, पर स्वरूपमें भेद नहीं है।

सर्वजीवोंसे समानता होनेपर भी प्रभुसमानताकी दृष्टि किये अनेक रहस्य—शाली जीव जहां यह निरख रहा है कि मैं वह हूं जो है भगवान, जो मैं हू वह है भगवान, वहां यह भी देख सकते है कि जगतके जितने जीव हैं जैसे वे सब जीव हैं तैसा मैं हूं, जैसा मैं हूं तैसे सब हैं; पर इस तरहके उपदेशोंकी मुख्यता क्यों नहीं है? जैसे प्रभुमें अपनी बात लगाते हैं अधिकतर कि जो आत्मा सो परमात्मा। ऐसी बात संसारके इन सब जीवोंके साथ क्यों नहीं लगाते कि जो मैं सो ये हैं, जो ये सब सो मैं। इसका कारण यह है कि परमात्माका परिणमन और स्वभाव एक होगया है। और, संसारी जीवोंका परिणमन और स्वभाव अभी एक नहीं है। सब जीवोंका स्वभाव है ज्ञान और आनन्द, किन्तु सहज ज्ञानानन्दपर बीत क्या रही है? विपरिणमन क्यों होरहा है? कितनी आकुलता, कितना खेद। तो ऐसे विपरीत परिणमन वाले जीवोंमें जीवके स्वभावकी निरख सुगमतया न हो पायगी, किन्तु जहां परिणमन भी शुद्ध है ऐसे परमात्मस्वरूपको निरखकर स्वभावकी निरख सुगमतया हो जाती है, एक कारण तो यह है। दूसरा कारण यह है कि परमात्माकी उपासनामें यह भी ध्यान रहता है कि आखिर शुद्ध

होकर यह दशा मिला करती है, यह अवस्था हुआ करती है। जिसे कहते हैं—निरुपाधि स्थिति। उपाधिरहित स्थिति और उपाधिरहित स्थिति ही हितरूप है, और अन्तिम विकास है, यही ग्रहण करने योग्य है। यह भी दृष्टि रहती है इसलिए समस्त प्रयोजन प्रभुके स्वरूप और अपने स्वभावकी तुलनामें आ जाते हैं।

सर्वजीवोंमें सहज परमात्मतत्त्वकी प्रतीतिसे वास्तविक लाभ— यदि कोई ज्ञानी पुरुष जगतके जीवोंको भी निरखकर पर्यायमें दृष्टि न अटकाकर स्वभावको देखे और उस स्वभावदृष्टिसे उन सबका ज्ञान करे, उपयोग करे, अपना अन्तर्व्यवहार बनाये तो लाभ यहां भी हो सकता है। किसीके भी अपराधका झट क्षमा कर सकना, किसीके द्वारा किए गए उपद्रवमें दृष्टि न होना, इन सब बातोंके लिए यह भी कारण पड़ जायगा कि हम सब जीवोंको स्वभावदृष्टिसे ... तो वे सब ऐसे सहज कारण परमात्मस्वरूप। यदि ... है तो मूलमें इस ... करतूत ऐसी है, ... परिणमन बन रहा ... उसके प्रति क्षमाभाव है। मूलमें शुद्ध चैतन्यस्वभावका निरखना ... एक अद्वैत तत्त्वरूप। जहां देखो आता है। इसी आधारको कहते हैं वहां यह ही चैतन्यभाव दृष्टिमें रह जाय तो फिर बस ज्ञानीका संसारसे छुटकारा पाना अत्यन्त निकट है। शीघ्र ही संकटोंसे यह तत्त्वज्ञानी छूटेगा।

आत्महितकी प्रेरणा पानेका लक्ष्य बनानेका अनुरोध—भैया! हम ... भी बहुत करें, किन्तु उससे अपने आपमें को... ...भोजनका गुणगा...

नरक नहीं आ सकता है। तब फिर बात तो अन्तर्ध्यानकी रही। जिसका अन्तर्ध्यान उज्ज्वल बना, ज्ञानस्वरूपमें जिसका उपयोग बैठता गया उसको मुक्ति हुई, पर इस अन्तर्ध्यानके बननेमें मनकी प्रबलता चाहिए और मन प्रबलतासे एक ओर लगा रहे इसके लिए साधना भी चाहिए। यों परम्परया सहयोगी कारण है, परन्तु इतने कारण होनेके नाते इसपर दृष्टि लगाई जाय तो कारण भी नहीं रहा, फिर तो परदृष्टि होगई। फिर तो आत्मध्यानकी पात्रता खतम होगई। तो किस ओर ध्यान बनाये रहना चाहिए कि परम्परया सहयोगी साधन भी जो मिलने होंगे सो मिलते ही जायेंगे, उन सहयोगी अत्यन्ताभाव वाले पदार्थों पर दृष्टि नहीं रखना है। ऐसा तत्त्व क्या है ? यह है यही कारण परमात्मतत्त्व आत्माका शुद्ध चैतन्यस्वभाव।

सर्वविधानोंका परिचय होनेपर भी ज्ञानीका आलम्ब्य शरण तत्त्व—शुद्ध स्वरूपके प्रकट होनेमें कर्मोंका क्षय भी निमित्त है। और, इस अन्तर्ध्यानके समयोंमें कर्मोंमें भी संक्रमण, निर्जरण, स्थितियोंका घटना, अनुभागघात आदि अनेक काम होते हैं जिनका करणानुयोगमें वर्णन है। जिनका प्रमेय बहुत अधिक है। होता है सब, लेकिन स्वरूपदृष्टिसे देखो कि कर्मोंमें जो कुछ यह अवस्था बन रही है वह कर्मोंमें कर्मोंके ही उपादानसे चल रही है। और, उस स्थितिमें यहां आत्मामें जो निर्मलता प्रकट होती है वह आत्मामें आत्माके उपादानसे प्रकट होरही है। परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी स्वरूप-चतुष्टय जुदा-जुदा है। तो शिक्षाकी बात तो यहां यह है कि जानें तो लें सब विधियां, निमित्त आश्रय, स्थितियां, परंतु लक्ष्य, दृष्टि, आलम्बन, शरण, एकमात्र आश्रय होना चाहिए आत्माके उस उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपका। और विधिसे फिर यह जीव रागसे दूर होगा और इसके ज्ञानका-

विकास होगा।

सच्चे भगवानके कीर्तन करनेवालेकी प्रेरणा—जब यह सोचा जा रहा है कि मैं वह हूं जो है भगवान, तो यहां एक गुण दृष्टिसे स्वरूपकी पूजा की जा रही है। आखिर परमेश्वर सारे अलग नहीं है, और सब भगवंत जीवोंको निरखकर भी ऐसा जान कि जो मैं हूं सो आत्मा शिव है, जो आत्मा शिव है सो मैं हूं तो यहां कोई व्यक्तित्वकी बात नहीं कहा जा रहा है, किन्तु उस ही स्वभावदृष्टिके बलसे इस सहज परमात्मस्वरूपकी ही बात की जा रही है। इस आत्माको तो मानते हैं और इसका कीर्तन भी करते गुणानुवाद भी करते, कीर्तन किए बिना कोई मनुष्य रह नहीं पाता। कोई स्त्रीके आगे शेखी मारता है, अपनी बड़ाई करता है तो वह अपना कीर्तन ही तो कर रहा है। कोई समाजमें बैठकर अपनी शेखी मारता है, अपनी बड़ाई करता है तो वह अपना कीर्तन ही, तो कर रहा है। चार-चार अपने गृहमें रहते हुए अपनी विशेषताकी बात कह रहे हैं तो ये अपना कीर्तन ही तो कर रहे हैं। तो कीर्तन किए बिना कोई रह तो नहीं पा रहा है, किन्तु यह कीर्तन मिथ्या है, व्यर्थ है, अनर्थ है। लाभकी तो बात ही नहीं, हानि ही हानि होती है। मनुष्यभवके ये दुर्लभ जीवनके क्षण एकदम गुजरते चले आरहे हैं और यहां लग रहे हैं पर्यायके कीर्तनमें तो यह कितना भूलमें, कितना गर्तमें यह जीव जारहा है। यह कीर्तन मिथ्या है। कीर्तन करिये अपनी दृष्टिसे अपने लिए, अपने आपके ही आनन्दके लिए, अपनी ही तृप्तिके लिए। अपने आपके स्वरूपको निरखकर गुणरूपसे कीर्तन करते रहिये। लोग कहते हैं।

आत्मगुणके अधिकीर्तनमें लाभ उठानेका ध्यान—शास्त्रोंमें लिखा है कि अपने गुण अपने मुंहसे नहीं कहने चाहिए। इसमें मर्म क्या ? सीधी बात है। अपने गुण अपने आप बखान देनेसे गुणोंकी

करनेमें कमी आ जायगी। आप अनुभव करके देखो, इन गुणमें, इस विशुद्धिमें वह प्रगति न रहेगी, वह शान्ति न रहेगी। लेकिन आत्माका जो यह शुद्ध गुण कहा जारहा है, जिसप्रकारकी बात कही जारही है इसका वर्णन करनेसे, बखान करनेसे गुणमें प्रगति होती है और साथ ही यह भी जानो कि कोई बाधा भी आजाती, आत्माके सहज स्वाभाविक इन शुद्ध गुणोंका भी वर्णन करनेसे, हानि तो यह है तुरन्त कि हमारा अभी व्यवहार बन रहा है, हम अपने आपमें डूब नहीं पा रहे हैं, लेकिन यहां भविष्यमें मेरे विरुद्ध अन्तर डालनें, इतना अन्तर नहीं डाल सकता आत्मगुणकीर्तन, पर जहां पर्यायका लगाव रखकर आत्मगुणकीर्तन हो, तो उससे गुणोंमें बाधा आती है, फिर भविष्यमें भी विकास नहीं होता। इससे कर्तव्य तो यह है कि गुम ही गुन, अपने आपमें अपने ही रसका घूंट पीते हुए मस्त रहें। किसीसे प्रयोजन क्या? कोई मेरा रक्षक है क्या? कोई मेरा उत्तरदायी है क्या? मेरा तो लोकमें कहीं कुछ नहीं है। केवल मैं ही हूं। अपने भाव सम्हालूं, अपना ज्ञान सम्हालूं, अपने ज्ञानका, अपने स्वभावका प्रयोग बनाये रहूं तो मेरा उद्धार है। और परविषयोंमें रति करूं, आसक्ति करूं, लिप्त होऊं, तो प्रकट मेरी दुर्दशा है, जो जीव लोकमें होरहा है, जो संसारमें दि... रहा है, फिर तो वही भर रहेगा। इससे यह बहुत बड़ा उपार्ज... होगा, आपकी बहुत बड़ी कमाई होगी कि हम अपने सहजस्वरूप...

[illegible] ... निरी...

रखकर मोहकल्पित पा[illegible] ... उन्हें भी कुछ समान समझने लगा, ...
आत्मीयताकी बात जगायें, उन्हें भी कुछ समान समझने लगा,
ऐसे कर्तव्य करते रहना चाहिए, इसमें चाहे थोड़ा द्रव्य भी

दूसरोंके उपकारमें तो यहां शिक्षा तो मिलेगी कि परिजन ही मेरे सब कुछ नहीं है। जैसे ये जीव हैं वैसे ही जगतके अन्य सब जीव हैं। और फिर धनकी तो बात यह है कि कोई कमा कमाकर जोड़ले, यह किसीके हाथकी बात नहीं है। वह तो उदयानुसार आता है। तो कुछ ऐसी वृत्ति बनायें कि जहां अपने कुटुम्बपर मानलो ४०० रुपये खर्च होरहा है तहां अपने पड़ोसी गरीब भाइयोंके पीछे या अन्य-अन्य दुःखीजनोंके पीछे कुछ खर्च लगादें, तो उनकी मदद करनेके इस भावसे भी ऐसी बात मिलेगी कि जैसे ये हमारे घरके थोड़ेसे लोग हैं वैसे ही तो ये सब जीव हैं। ये ही मेरे सब कुछ नहीं हैं। होते संते की बात कही जारही है। कहीं यह नहीं कहा जारहा कि धन नहीं है और ऐसा न कर सके तो धर्म नहीं किया। अरे धर्म तो आत्मदृष्टिका नाम है, स्वभावदृष्टिका नाम है, और वह स्वभावदृष्टि हमारी तब ही बन सकेगी जब परिजनोंमें घनिष्टता न रहे।

विषयविरक्ति और आत्मानुभूतिसे प्राप्त दुर्लभ लाभोंकी संपन्नता—विषयोंमें विरक्ति हो और आत्मस्वभावकी दृष्टि हो तब तो उद्धार है, अन्यथा मनुष्यत्व पाया न पाया, एक ही बात है, कोई अन्तर नहीं। क्योंकि अब तक अनन्ते ही भव पा लिये और उनमें मनुष्यत्व भी पाया होगा, पर लाभ कुछ न पाया। इससे अपना एक दृढ़ कर्तव्य बनायें, विषयोंसे विरक्ति और आत्मस्वभावमें दृष्टि। इस पद्धतिसे हमारा जीवन चले तब तो जीवन सफल है और इसके विरुद्ध, आत्मस्वभावकी उपेक्षा और विषयोंके अनुराग हो तो यह बात तो बहुतकी अनादि-अनादि भवोंमें पायी जाती है। इससे मनुष्यभव पानेका लाभ कुछ न पाया। तो हम आज यह सोचें कि मैं यह हूँ मैं हूँ भगवान। इनसे प्रेरणा यहीं तो मिलती है— विरक्ति और आत्मानुभूति। इनके पाने ही यह [illegible]

रागकी नैमित्तिकता और अस्वरूपता—इस रागभावमें बड़े-बड़े अन्तर और विषमताके साथ होने वाले राग कादाचित्क नजर आते हैं। कभी क्रोध है, कभी मान है, कभी माया है, कभी लोभ है, कभी किसी प्रकारका राग है, कभी कम राग है, कभी ज्यादह राग है, ऐसा होनेका कारण क्या है ? इसका कारण है कि राग सहज नहीं है। मेरे आत्मामें आत्माके स्वभावसे, स्वरूपसे राग चल रहा हो ऐसी बात नहीं है। इसका कारण है, और वह निमित्त कारण है। कई लोग रागका उपादान कारण कर्मको मानते हैं। यदि रागका उपादानकारण कर्म ही तब तो बहुत बड़ी सुविधा हमें मिल गई। जब भी दुःखी हों तो कर्म हो, रागी हों तो कर्म हों, फिर हमपर क्या आपत्ति ? फिर मोक्षमार्ग किसलिए हम अपना बनायें ? रागका उपादान यह आत्मा है—"यह रागवितान", किन्तु इसका निमित्त कारण कर्म है। निमित्त कारण हमेशा अत्यन्ताभाववाला होता है, लेकिन उसके उपादानमें उत्पन्न हुए कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेकका सम्बंध पाया जाता है। जैसे क्रोधकषाय हुई तो क्रोधप्रकृति नामक कर्मके उदय होनेपर ही हो सकती है। और क्रोधप्रकृति कर्मके न होनेपर नहीं हो सकती है, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बंध जीवके कषायका कर्मके साथ है। लेकिन कर्ममें अत्यन्ताभाव है जीवके परिणामका, जीवके स्वभावका, जीवके सद्भावका। कर्म जुदे हैं और आत्मा जुदा है, पर कर्मका निमित्त पाकर आत्मामें कषायभाव जगा है। यह कषाय मेरा स्वरूप नहीं है।

कषायोंके त्यागमें ही कल्याण—भैया ! यह जगत केवल कषायोंसे परेशान होरहा है। बाह्य वस्तुओंसे परेशानी नहीं है। बाह्य पदार्थ तो ये सारे जैसे आपके लिए बाह्य हैं तैसे ही हमारे लिए बाह्य हैं। आपका मकान जैसे और प्राणियोंके गैर है, बाह्य है, ... है, इसी प्रकार आपसे भी निराला है। तो निराली चीजसे

औरोंको भी दुःख नहीं होगा, सुख नहीं होता। तो ऐसे ही निराले ज्ञानसे आपको भी सुख-दुःख नहीं है, किन्तु उसमें जो कल्पना बना रखी उससे सुख-दुःख होता है। बड़े-बड़े महान पुरुषोंने इस रहस्यको जाना था कि कल्पना बेकारकी चीज है, कल्पनायें कोई सार नहीं है और असार कल्पनाओंसे ही यह संसारचक्र चल रहा है, अतएव कल्पनाके त्यागमें और कल्पनाके विषभूत छह खण्डके वैभवके भी त्यागनेमें उनको रंचमात्र कष्ट नहीं होता। यहां तो थोड़ा बहुत त्याग करनेमें बड़ा कष्ट होता है। अरे, इतने रुपये तो मुझसे चले गए, अब हमारा कैसे जीवन चलेगा? जिन महापुरुषोंने कल्पनाओंको असार जाना, और कल्पनाओंसे जीवकी परेशानी है, ऐसा रहस्य समझा, वे कल्पनाओंका त्याग करते हैं। वे नहीं चाहते कल्पनायें, क्योंकि कल्पनाओंके ही आधारपर बाह्य पदार्थोंका लगाव बना हुआ है। कल्पनायें छूट जायें तो बाह्य पदार्थोंसे कौन लगाव लगायेगा? तो ये सब कल्पनायें सारहीन हैं, ऐसा जानकर कल्पनाओंका त्याग किया कि बेड़ा पार हुआ।

कल्पनाओंको त्यागकर सत्य विश्राम लेनेका अनुरोध—यहां तो लोग कल्पनायें करके दुःखी होरहे हैं। न चीज अपनी बनती है और न कल्पनायें छोड़ी जाती हैं। दोनों बातें एक साथ मिली भई हैं। चीज अपनी बन जाय तो कुछ चलो कल्पनाका मौज तो लिया जाय। तो कोई चीज अपनी बनती नहीं और न कल्पनायें छोड़ी जाती हैं, जिसके कारण लोग बहुत परेशान होरहे हैं। यह स्थिति है मोही जीवोंकी। और, उन बाह्य पदार्थोंकी धुनमें इतनी आसक्ति बना रखी है कि दिन-रातके किसी भी मिनट तो विश्राम नहीं ले पाते। जैसे लोग थक जाते हैं तो वे कुछ न कुछ विश्राम करते हैं। कोई बड़ा आवश्यक काम पड़ा हो, कह देते कि अरे यह अब पीछे होगा, पहिले विश्राम करलें। तो थक

दो-चार घंटे विश्राम तो लेते हैं लेकिन उस विश्राममें भी विश्राम नहीं है। क्यों कि दिलकी दौड़, ख्यालकी घुड़दौड़ इतनी तेज मच रही है कि दिलमें चैन नहीं है। जब दिल थक जाता है कषाय करते-करते, इच्छा करते-करते, परको सताते-सताते, तो इस दिलको विश्राम देना चाहिये। दिलका विश्राम यही है कि यह सोचलें कि अब मुझे कुछ नहीं सोचना है। सोचनेसे दिल थक गया। दिलकी थकान मेटनेका उपाय सोचनेका काम मिटाना है। जैसे किसी कामके करते-करते शरीर थक गया तो शरीरकी थकान मिटानेका उपाय प्रथम तो यह है कि उस कामका करना बन्द करदें। अब सोच-सोच करके हमने अपने दिलको थका डाला, परेशान कर डाला, तो सोचनेमें सार तो कुछ है नहीं। जगतके किसे पदार्थका सोच किया जाय कि वह पदार्थ मेरे आत्माका सच्चा साथी बन जाय? कुछ भी नहीं है ऐसा, तब फिर सबका सोचना एकसाथ बन्द किया जाय तो यह होगा दिलका विश्राम।

[illegible]. कषायोद्भूत परेशानीका मौलिक विवरण—जगत कषायोंसे परेशान है। इसमें प्रथम बात तो यह है कि ये कषायें मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। मैं हूं विशुद्ध ज्ञानानन्दमय। अपने आपका जो सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह स्वरूप जिस किसी भी प्रकार प्रयत्न करके अपने उपयोगमें आये, अपना सहज परमात्मतत्त्व [illegible]

[illegible] सुख [illegible] तब

[illegible] इतनी श्रद्धा तो अवश्य बनाये रहें कि जो कुछ भी चीजें [illegible] उनमें सार कुछ नहीं है, और उनसे मेरा पूरा न पड़ेगा [illegible]

रहा है। और, स्वभावदृष्टिसे ज्ञान-आनन्द गुणोंमें रहनेपर कभी यह स्थिति आयगी कि इस स्वभावके अनुरूप परिणमन प्राप्त कर लेंगे। आखिर यह आत्मा प्रभुकी तरह ही तो प्रभु है, समर्थ है। प्रभु कहते उसे हैं जो प्रकर्षरूपसे होवे। तो यह आत्मा जब बिगड़ता है तो बिगड़नेमें भी अपनी प्रभुता बताता है। भला कोई है क्या ऐसा वैज्ञानिक कि जो इस जीवकी रचना करदे, इस जीवका जैसा परिणाम, इस जीवका जैसा जन्म-मरण बनादे? है तो नहीं कोई ऐसा, लेकिन यह प्रभु अपनी उल्टी लीलामें अपना ऐसा उल्टा विकास कर रहा है कि आश्चर्य करने लायक है। यह आत्मदेव आज मनुष्यशरीरमें बंधा हुआ है और अपनी करनीके अनुसार इस सबको छोड़कर अगर पेड़-पृथ्वी भी बन जाये, किसी भवमें चला जाय, किसी देहमें फस जाय, ऐसी सृष्टि हो जाना, ऐसा आत्माका फैल जाना, इच्छायें, संज्ञाओंका बदलता जाना, ये सारी बातें अद्भुत हैं कि नहीं। तो यह प्रभु जब उल्टी लीलामें चलता है तब भी वहां अपना चमत्कार दिखाता है और जब यह अपनी सीधी लीलामें आ जायगा तब भी यह अपना अद्भुत चमत्कार दिखायेगा। फिर तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द, अनन्त कृतार्थता पूर्ण पवित्रता प्राप्त होगी। तो यह जो अन्तर पड़ा हुआ है, इस अन्तरको यह ज्ञानी जीव ऊपरी देखता है अर्थात् पर्यायमें देखता है, स्वरूपमें नहीं देखता। यदि स्वरूपमें अन्तर हो जाय तो फिर भगवद्भक्ति करनेसे भी कुछ फायदा नहीं। जब मैं स्वरूपतः अन्तः रागी हो गया तो किसी जीवका स्वरूप ज्ञान है, तो यहां राग मेरा स्वरूप है तो फिर राग छूटेगा कैसे? राग न छूटेगा, मुक्ति न होगी तो फिर किसलिए भगवानकी भक्ति करना? तो सत्य यही है कि राग आत्माका स्वरूप नहीं है, ऐसा रागका जो फैलाव है वह कादाचित्क है और सहेतुक है, कर्मका निमित्त पाकर

यह उत्पन्न हुआ है। [illegible]

निमित्तनैमित्तिभावके प्रसंगमें भी आत्मस्वातन्त्र्यका दर्शन—इस प्रसंगमें कुछ मनुष्य इस रुचिके कारण कि कहीं आत्माकी स्वतन्त्रतामें शंका न लगे सो रागभाव नैमित्तिक है, ऐसा प्रकट कहनेमें संकोच करते हैं। यदि रागको नैमित्तिक कह दिया तो, है तो राग आत्माका परिणाम और उसे बता दिया नैमित्तिक तो इसमें आधीनता आगई, स्वतंत्रता न रही, इस भयसे रागको नैमित्तिक स्पष्ट कहनेमें संकोच करते हैं। लेकिन, एक दृष्टिसे देखो कि रागको नैमित्तिक कहनेमें आत्मामें स्वच्छता, स्वतन्त्रता विशेष आदि हो सकती है। और, इसी कारण कहीं-कहीं तो रागको पौद्गलिक कह दिया है शुद्धनयसे अर्थात् शुद्धनयका बल लेकर जब आत्माके विशुद्ध सहज चैतन्यसत्त्वमात्र देखनेकी धुन बनी है ऐसी धुनके [illegible] कोई पूछ बैठे कि यह रागभाव किसका है तो चूंकि [illegible] शुद्धताके दर्शनकी तीव्र रुचि हुई है तो वहाँ उत्तर [illegible] रागभाव पौद्गलिक है। इनका कर्मके साथ अन्वय [illegible] कर्मके होनेपर रागादिक होते हैं, कर्मके न होनेपर [illegible] होते। तो यह विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनयसे [illegible] रागादिक आत्माके नहीं हैं किन्तु पुद्गलके हैं। [illegible] पदार्थके स्वरूपको न जानकर कह देते हैं कि [illegible] द्रव्य है। इस मान्यतामें स्वतन्त्रता कोई [illegible] बना रहता है वह। अरे निमित्तनैमित्तिक [illegible] आत्मामें जो परिणमन है वह निमित्तके [illegible] अपने आपके परिणमनसे परिणमता है। [illegible] निमित्तभूत पदार्थसे उपादानका [illegible] खुदकी विभाव परिणतिका निमित्त [illegible] आत्मा आत्माके रागरूपकी परि[illegible]

यही है उपादान और यही है निमित्त, और आत्माका सद्भाव शाश्वत है, तब फिर राग सदा रहना चाहिए, उससे कभी मुक्त ही नहीं हो सकते।

विकारोंकी अहितकारिताके विश्वासकी अपरिहार्यता—भैया! यह विश्वास लायें कि ये जो रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं वे मुझे मूर्ख बनानेके लिए हो रहे हैं। मैं तो भगवान समान विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावका धारी हूं। इन रोगोंमें, इन कषायोंमें हम हितका विश्वास न करें। इतनी बात तो करनेमें कोई कठिनाई नहीं है। हम यह जानते रहें कि हममें जो राग हो रहे, कल्पनायें हो रहीं, मोह जग रहा, इच्छा हो रही, ये सब मेरी बरबादीके लिए ही हैं, मेरी उन्नतिके लिए नहीं हैं। लौकिक उन्नतिसे आत्माकी उन्नति नहीं कहलाती। कोई करोड़पती होगया, अथवा कहींका बड़ा मिनिष्टर बन गया, हजारों लाखों लोगोंने कहीं कुछ स्वागत कर दिया तो इस बड़प्पनसे इस आत्माको मिलेगा क्या? जो अपने ज्ञानानन्दस्वभावपर दृष्टि नहीं दे रहा है वह खोखला ही तो बन रहा है। उसके भीतरमें तो कुछ बल नहीं रहा। केवल कल्पनायें कर करके अपना मन भर रहा है, जो कि क्षणिक थोड़े समय बाद उससे कठिन दुःख भी आयेंगे। थोड़ा हजार लाख पुरुषों द्वारा अपना स्वागत देख लिया और उससे मौज मान लिया, पर उस क्षणिक मौजके एवजमें उसको कितना दुःख उठाना पड़ेगा, इसको तो वही समझेगा। बाह्य पदार्थोंसे हम अपने आपका कुछ बड़प्पन बनालें यह तो कल्पनाकी चीज है, कोई आरामकी बात नहीं है।

सहज परमात्मतत्त्वके उपयोगमें ही उद्धार—मेरा कोई बड़प्पन मत रहो, कोई मुझे जानने समझनेवाला मत रहो, यदि मैं स्वयं अपने आपके स्वरूपका, परमात्मतत्त्वका जानने-बूझने वाला रहूंगा तो मैं तृप्त हूं, सन्तुष्ट हूं, सन्मार्गपर हूं और एक अपने इस सहज

ज्ञानमात्रकी दृष्टिसे अपना रहूंगा तो चाहे बाहरमें कुछ भी आपत्तिकी स्थिति रहे, उससे इस आत्माको लाभ कुछ नहीं है। तो ज्ञानी संत विचार कर रहा है कि प्रभुमें और मुझमें यद्यपि पर्यायकृत अन्तर है, प्रभु विराग हैं और यहाँ रागका फैलाव हो रहा है, इतनेपर भी यह अन्तर स्वभावमें नहीं है। स्वरूप एक समान है, ऐसा जानकर अपने आत्मगुणोंके कीर्तनमें रत ये संत पर्याय दृष्टिको गौण करके द्रव्यदृष्टिसे, स्वभावदृष्टिको मुख्य करके अधिकाधिक अनुभव करनेका यत्न कर रहे हैं कि जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है। मुझमें किसी भी प्रकारका क्लेश नहीं है। क्लेश हो रहा हो तो रागद्वेषमोहकी कल्पनायें छोड़दें, क्लेश अवश्य मिटेगा और उस कल्पनाके छोड़नेमें कोई संकोच और हैरानी भी न माना चाहिये, क्योंकि यह तो सब छूटेगा ही। वैभव भी छूटेगा और वैभवविषयक कल्पना भी छूटेगी। तब ज्ञानबलसे हम स्वरूपदर्शन कर करके क्यों न उन कल्पनाओंको छोड़दें, जिससे हमारा उद्धार हो।

निरन्तर तथा अविकार अन्तस्तत्त्वका समुत्कीर्तन—जितने भी पदार्थ होते हैं वे मूलमें अपने निज सहज सत्त्वसे सिद्ध होते हैं, अर्थात् जो भी है वह अपने कारण अपने स्वरूपसे अपने स्वभाव-मात्र है। फिर बाह्य पदार्थोंका सम्बंध बने और उस सम्बंधके कारण विभावपना आया तो उससे रागमल उत्पन्न हो जाता है। यह मल ऊपरी है, स्वभावमें नहीं है। इस शरीरको आत्माका बिलकुल ऊपरी आवरण कह सकते हैं, याने आत्माके प्रदेशमें शरीरका कुछ भी नहीं गया। शरीर अत्यन्त भिन्न पदार्थ है, आत्मा अत्यन्त भिन्न है। आत्मामें शरीरका आवरण बिलकुल ऊपरी है, इस तरहका ऊपरी आत्मामें राग नहीं है। जब राग होता है तो आत्माके सर्वप्रदेश रागमय हो जाते हैं उस कालमें।

जो परिणमन है, पदार्थ उस परिणमनमय हुआ करता है। इतना अन्तः भीतरी परिणमन होनेपर भी चूंकि वह स्वभावमें नहीं है सहज स्वरूपमें नहीं है इस कारण रागविलास ऊपरी अन्तर कहा गया है। जहां पर्यायकृत ही अन्तर है, स्वभावमें अन्तर नहीं है ऐसे स्वरूप दृष्टिसे अपना और प्रभुका स्वरूप निहारकर अपने आपको तृप्त पवित्र करना चाहिये। लोकमें अन्य कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका ध्यान रखनेसे, जिसकी उपासना करनेसे आत्मा पवित्र हो सके। केवल एक यह प्रभुस्वरूप ही है जिसका ध्यान करनेसे आत्मा पवित्र बनता है। पवित्रता क्या? ज्ञान शुद्ध रहे रागद्वेष इष्ट अनिष्ट ये वासनायें न जगें ऐसे उपयोगके निर्मल रहनेका ही नाम पवित्रता है। तो जैसे स्वरूपकी दृष्टि रखनेपर मुझमें और भगवानमें समता ज्ञात होती है ऐसा स्वतंत्र, निश्चल, अविकार, ज्ञानन देखनमात्र यह मैं आत्माराम हूं।

"मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥"

स्वरूपके अनुरूप उपयोग बनानेके प्रयत्नके साथ ज्ञानीका आत्मस्वरूप-चिन्तन—मेरा स्वरूप सिद्ध प्रभुके स्वरूपके समान है अर्थात् जैसे सिद्ध प्रभु अनन्त ज्ञानदर्शन आनन्दशक्तिके निधान हैं, उस ही प्रकार मैं अपने स्वरूपमें अनन्त ज्ञानदर्शन शक्ति आनन्दका निधान हूं, अर्थात् सहज अनन्त चतुष्टयमय हूं। प्रभु व्यक्त अनन्त चतुष्टयमय हैं। जिस स्वरूपकी बात कही जाती हो उस स्वरूपका उपयोग पहुंचनेपर उसके तथ्यका ज्ञान होता है। हम अपने उपयोगको विषय कषायोंकी वासनासे वासित बनाये रहें और सिद्ध-प्रभुके स्वरूपकी, अपने स्वभावकी चर्चा मात्र करके उसका परिचय पायें, उसका रसास्वाद करना चाहें तो ऐसा नहीं हो सकता। तैयारीके साथ प्रभुस्वरूपका कोई परिचय करे तो परिचय हो सकेगा। जैसे

छोटे बच्चेको कुछ काम सिखानेके लिए मां स्वयं उस प्रकारसे चेष्टा करती है तो बच्चा भी चेष्टा करता है। जैसे मंदिरमें मां ने भगवानको नमस्कार किया तो बच्चेने भी नमस्कार किया। कभी बच्चेको नमस्कार कराने के लिए दूसरी तीसरी वार भी नमस्कार करती है, हाथ जोड़ती है। जो काम बच्चेसे एक शान्तिसे कराना हो तो उस रूप स्वयं वह मां तैयारी करती है तो वह बच्चा भी करता है। यहां सिद्धके स्वरूपको जानना चाहें तो सिद्धकी निर्मलताका हम अनुकरण करें, उस रूपसे अपना उपयोग बनायें तो हम सिद्धके स्वरूपका परिचय पा लेंगे। हम उपयोग तो चलाते उल्टे और जानना चाहें प्रभुके स्वरूपको, स्वभावका तथ्य, तो यह बात नहीं बन सकती। जगतके पदार्थोंको असार भिन्न जानकर, अत्यन्त भिन्न असार समझकर उन सब विषयोंका उपयोग न रहे, केवल एक अपने उपयोगका यही लक्ष्य रहे कि मुझे तो जानना है अपने उस सार शरण प्रभुको। एकमात्र इस पवित्र उद्देश्यके साथ बाह्य पदार्थोंका विकल्प तोड़कर अपने आपमें निष्कषायभावसे, पक्षपात छोड़कर, किसीको इष्ट अनिष्ट न जानकर, सबके प्रति राग विरोध छोड़कर हम अपने आपके उस प्रभुस्वरूपसे मिलना चाहें तो मिलन हो सकता है।

प्रभुमिलनकी सुगमता—भैया! प्रभुका मिलन क्या है? स्वयं ही तो है यह प्रभु। मिलन यों कहलाता कि उपयोगने कभी इस प्रभुको नहीं विराजमान किया। हम इससे अलग रहे उपयोग द्वारा हम अलग कहां रह सकते हैं। हम ही तो वही द्रव्य हैं। आत्म द्रव्य जो द्रव्य असली रूपमें रह जाय तो प्रभु कहलाता है स्वरूपसे। तो हम स्वयं सर्वस्व शरण सार प्रभु होकर भी अपनेको जान सके, उपयोग इससे अलग रहा तो कहां रहा फिर हमका प्रभु इससे मिलन न रहा। जो बच्चा अपने पितासे विरुद्ध

विरुद्ध उपयोग रखता है तब फिर उस एक घरमें रहते हुए भी पितासे पुत्रका मिलन तो न कहलायेगा। वह तो एकदम विरुद्ध चल गया। अब मिलन क्या रहा? और, जब मिलन नहीं है और एक ही घरमें बस रहे हैं तो वहां आकुलता व्याकुलता होती ही है। माना तो जा रहा है अपना और विरोध होनेके कारण उसे उसमें हो रहा है विरोध तो ऐसी स्थितिमें आकुलता उत्पन्न होती है। किसीको अपना मत मानो। कोई आवश्यकता नहीं किसीको अपना माननेकी, चाहे कितना ही विरोधी हो, कितना ही अलग रहता हो, जो पुरुष पहिलेसे विरोधी है उसके विरुद्ध कार्यको देखकर दुःख नहीं होता। और जब कोई अपनेमें से अपना ही मित्र अपनेसे कदाचित् विरोध कर जाय तो उसमें बड़ा दुःख महसूस करते हैं। तो यह उपयोग अपना ही तो है। और, यह स्वरूप स्वयं ही है। यह उपयोग इस स्वरूपसे विरुद्ध होगया है। अपना सम्बंध है उपयोगसे और फिर अपने स्वरूपसे हो रहा है विरोध, तब इसमें आकुलता होना प्राकृतिक बात है।

उपयोगको स्वरूपानुरूप करनेमें लाभ—अब अपने इस उपयोगको इस अनुकूल करें पूरे निर्णयके साथ कि जगतमें कहीं सार नहीं रखा, ऐसे निर्णयके साथ परसे उपेक्षित होकर ज्ञाता द्रष्टा रहे। क्या रखा है दाममें? मानलो बहुत-बहुत परिग्रह जोड़ लिया तो अन्तमें इसमें तत्त्व क्या मिलेगा? आत्माका सार और कल्याण क्या मिल सकता है? कुछ भी नहीं। और, वर्तमानमें भी क्या सार रखा है? यदि यहांके कुछ मोही लोगोंने कुछ प्रशंसा कर दी, यह बहुत अच्छा है, अग्रिम स्थान दे दिया मोहियोंने तो इसका अर्थ है कि आप मोहियोंके सिरताज बन गये। मोहीका पर्यायवाची शब्द मूढ़ भी है। तो उन प्रशंसा करने वालोंने मूढ़ोंमें अग्रिम स्थान आपको दे दिया तो क्या अर्थ हुआ—मूढ़ोंके सिरताज बन

ये। क्या रखा है यहांके व्यवहार और यहांके मौजमें, यहांकी इज्जतमें। यह उपयोग अपने प्रभुकी इज्जत समझे तो असली इज्जत यहां है और तृप्ति सन्तोष यहां है। और, जिनको सन्तोषका ऐसा मिलन ओधार मिल गया है उसका स्वयं ही ऐसा विशिष्ट पुण्य रस बढ़ता है कि लोककी इज्जत, अग्रिम स्थान, लोकमें अनेक सुविधाओंका साधन ये सब अनायास प्राप्त होते हैं।

अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्तिका उपाय धर्मधारण—कोई बालक धनीके यहां उत्पन्न हुआ। उस बालकमें इतना भी तो बल नहीं है कि अपने पैर यहां वहां सरका ले, बैठ जाय, बोल ले, और उत्पन्न होते ही बच्चा कहलाने लगा लखपती, करोड़पती, और इस-इस तरहके उसके सोवन भी हो रहे हैं। तो कहां उस बालकने कमाई की, पर वह समृद्ध माना जाता है। जब वह कुछ और बड़ा होता, १०-१२ वर्षका होता तब भी वह कुछ धनोपार्जन नहीं कर रहा, लेकिन उसकी समझमें आ गया कि मैं ऐसा धनिक हूं। तो समझके कारण भी उसमें एक धनिकताकी विशेषता जगी। कौन कमाने आया? सब कुछ धर्मका फल है। धर्ममें चित्त होनेसे स्वयं ही ऐसा पुण्य रस उमड़ता है कि अनायास ही साधन प्राप्त होते हैं। जिसको इस लोकमें भी सुखी रहना हो, अपना जीवन भी सफल करना हो, भविष्यमें संसारके संकटोंसे छुटकारा पाना हो, तो इन समस्त कल्याणोंका इन समस्त अभीष्ट तत्त्वोंका उपाय केवल एक ही है? धर्म धारण करो।

गुप्तका गुप्तमें गुप्त विधिसे गुप्त कल्याणविधान—अब तक जो सिद्ध [illegible] जगी है वे भी कभी संसार[illegible]

[illegible] आ और मनुष्यभ[illegible]

[illegible] । वह रीति समझ[illegible]

[illegible] करना है। गुप्त, [illegible]

करके मायने सुरक्षित रहकर है, अब यह [illegible] ही रहनेमें होती [illegible]

इस कारण गुप्तका अर्थ लोग छुपा हुआ समझने लगे। गुप्तका अर्थ छुपा हुआ नहीं है। गुप् रक्षणे धातुसे गुप्त बना है उसका अर्थ है सुरक्षित। गुप्त रहकर धर्मपालन करो अर्थात् अपने उपयोगको अपने स्वभावमें रखकर सुरक्षित होकर, जिसमें कि कोई विघ्न ही नहीं दे सकता, अपने आत्मदर्शन करो और आत्मानुभव करते हुए अपने कल्याणमें बढ़ो। सुरक्षित बना हुआ है गुप्त इसलिये। जैसे किसी चीजको सुरक्षित करना है तो लोग तिजोरीमें रखकर ताला लगा देते हैं और कहते हैं कि लो इसे छुपा दिया। अब उस चीजकी सुरक्षा इसी हालतमें है कि वह छुपी हुई रहे, किसीकी निगाहमें न पड़े, क्योंकि उस वस्तुके चाहने वाले अनेक लोग हैं, उसे लोग चुरा लेंगे। तो वस्तुकी सुरक्षाका साधन जैसे लोगोंने छुपा देना माना है, यों ही समझ लीजिये कि अपने आपकी सुरक्षाका साधन भी अपने आपको अपनेमें छुपा देना, विलीन कर देना, बस यह है। अपने आपके गुण अपने मुंहसे प्रकट करनेके मायने है कि अपने स्वरूपको, स्वभावको, गुणको अपनी विशेषताको जाहिर करदे, लोगोंको बतादे, सो इसमें गौरव नष्ट होता है, प्रगति रुक जाती है। यद्यपि इस प्रसंगमें लोग मेरे गुण छीन लेंगे ऐसी बात नहीं है, लेकिन इस तरहकी जाहिरतामें अपने आपसे ही अपनी बात जाहिर करनेमें चूंकि उसको पर्यायबुद्धिका दोष लगा है, उसके चित्तमें यह राग कणिका उठी है कि लोग भी समझ जायें कि मैं कितना अच्छा चल रहा हूं। चाहे वह कितना ही थोड़े अंशमें बना हो, लेकिन इस राग विषके कारण गुणोंकी प्रगति रुक जाती है, गुणोंकी जो प्रगति चल रही थी वह समाप्त हो जाती है। तो कल्याण भी गुप्त है और उसकी विधि गुप्त है। और, यों समझिये कि यह भीतर ही भीतर अपने ही प्रदेशोंमें सरक कर अपने आपमें एकरस होनेकी बात है। यह है आत्माके कल्याणके

आत्मानुभूतिकी स्थिरताके लिये साधुव्रतका पालन—आत्मानुभूतिमें फिर स्थिरता नहीं रहती है सो उस स्थिरताको उत्पन्न करनेके लिए, स्थिरतामें जो-जो बाधायें हैं उनसे दूर रहनेकी बात होना इसीके मायने है साधुव्रत। घरगृहस्थीमें रहना, परिजनोंके बीच रहना आत्मानुभूतिकी स्थिरतामें बाधक है। यहां तक कि कुछ भी द्रव्य रखना, कोई भी वस्तु रखना ये भी किसी अंशमें हमारी आत्मानुभूतिमें बाधक हैं। तो जिनको आत्महितकी धुन लगी है वे पुरुष इन समस्त परिग्रहोंका त्यागकर निर्ग्रन्थसाधु हो जाते हैं। मात्र गातका परिग्र रह जाता है। शरीरको कहां त्यागदें। उनकी श्रद्धामें तो यह बात है कि यह शरीर भी मेरे आत्महितमें बाधक है। पर इसे कहां तक डालदें, कहां अलग करदें, यह तो लगा हुआ ही है, जब तक भी है, कदाचित् भावुकतामें आकर शरीरको हटादें, मरण करलें तो इससे इस आत्महिताभिलाषीको क्या सिद्धि है ? अभी अपक्व दशा है कल्याणमें पूरा बढ़ सके नहीं, कल्याणकी धुन जगी थी, औ भावुकतामें कर दिया शरीरका त्याग, तो अगला कोई जन्म तो लेन ही पड़ेगा। फिर संसारका चक्र लग जायगा। तो साधुजनोंका विवे अभी शरीरको रखे हुए है और उस ही विवेकके कारण साधुजनोंक आहार भी लेना पड़ रहा है। आहारके लेनेमें उन्हें कोई खुशी न होती, लेकिन आहार छोड़कर भी यही हालत समझिये, होगी उ शरीरका परिहार करके हालत हो सकती है अपक्व दशामें। अतए विवेक ही उन्हें आहारके लिए उठाता है, आसक्ति नहीं उठाती। इत तेज धुन जिस पुरुषके आत्महितमें लगी है वह पुरुष विशद अनुभ करता है कि "मम स्वरूप है सिद्ध समान।"

ज्ञानीकी केवल समाधेय एकमात्र समस्या—आत्महितार्थी पुरुषो लिए अन्य कोई समस्या आगे नहीं है। किसी बातको वे समस्या नहीं समझते। किसीने गाली दे दी तो वे इसे कुछ समस्या ही न

समझते हैं। क्या है, ये सब बाहरी बातें हैं, बाहरी परिणमन हैं। कोई शरीरपर उपद्रव भी करे तो उसे भी वे समस्या नहीं समझते। कोई भी कठिनसे कठिन शारीरिक रोग हो जाय तो उसे भी वे कोई समस्या नहीं समझते। वे तो जानते हैं कि किसी तरहसे मेरा संसारका आवागमन छूटे, संसारका आवागमन ही एक हमपर विपदा है, अन्य कोई दूसरी विपदा हमपर नहीं है। यह विपदा यदि न टली तो संसारमें रुलना हो तो बना रहेगा। आज मनुष्य होकर कुछ शान बगरा रहे हैं। मरणके बाद यदि कीट-पतिंगा, पेड़-पौधे आदि बनगए तो फिर कहां शान रही ? तो इस जीवनमें अन्य कुछ खास समस्या नहीं है। खास क्या, कुछ भी अन्य समस्या नहीं है। थोड़ासा गृहस्थ-जीवन चलानेके लिए सहयोगमें जो कुछ बात हो सकती है उतनीभर बात मानलिया लेकिन समस्या कुछ नहीं है।

ज्ञानीके बन्धनमुक्तिका तीव्र संकल्प—इस जीवनमें कुछ भी स्थिति गुजरे, बड़ा दरिद्र होकर भी रहना पड़े तो कोई बड़ी समस्या नहीं है। किसीका दास बनकर रहना पड़े तो कोई समस्या नहीं है। इस शरीरके नातेसे ये सब काम चल रहे हैं। यहां तक बताया कि हे प्रभो ! मैं आत्मधर्मसे रहित होकर, आत्मदृष्टिसे च्युत होकर अथवा कहो—जैन धर्मसे वंचित होकर चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता हूं। जिन धर्ममें वासित होकर अर्थात् रागद्वेषादिक शत्रुवोंको जीतनेका जो उपाय है उस उपायमें वासित होकर मैं किसी कोटिका भी दास बना रहूं, तो यह मंजूर है, पर आत्मदृष्टिसे रहित होकर चक्रवर्ती भी होना हमें मंजूर नहीं है। इतना तीव्र संकल्प है आत्महित चाहने वाले पुरुषका। दरिद्र हो गया तो यह कौनसी बड़ी समस्या है ? कुछ भी बात गुजर जाय तो कौनसी बड़ी समस्या है ? समस्या सामने यह है कि शरीर, कर्म, विकार इनका बन्धन कैसे छूटे ? एतदर्थ जो इन [illegible] रहित हैं उनके स्वरूपका स्मरण किया जा रहा है और

विहारमरण करते हुए अपने आपमें भी चिन्तन किया जा रहा है—"मम स्वरूप है सिद्ध समान।"

केवल स्वरूपके निरीक्षणसे सिद्ध स्वरूपका परिचय—सिद्ध भगवानका स्वरूप विचार करनेका सीधा उपाय है उन्हें केवल देखना। केवलके रूपमें इस निष्कल परमात्माको निरखनेपर जहां वह एक अल्पतत्त्व ही जब उपयोगमें रहता है तो उस ही का निषेधरूपसे यों कहा करते हैं कि वहां द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म नहीं, नोकर्म नहीं। निषेधसे वस्तुका स्वरूप नहीं आया करता। निषेध तो वस्तुके स्वरूपकी विशेषता है। स्वरूपमें तो स्वरूप है। तो यों जब हम केवल आत्माको निरखते हैं, प्रतिभासमात्र पदार्थ जो अपने आपके सहजसत्त्वसे अपने आपके सहजविलासमें निरन्तर रहता हो आत्मपदार्थ, इस ही का नाम है सिद्ध भगवान। तो जब हम केवलके रूपसे सिद्ध प्रभुको निहार सकते हैं तो हम अपने आपको भी केवलके रूपमें निहारें, क्योंकि जब मैं हूं तो जो हूं सो ही तो हूं। पदार्थमें जो अस्तित्व है बस वही अस्तित्व है उस पदार्थमें। मैं हूं तो जिस स्वरूपसे हूं उस ही मात्र तो हूं। उस ही केवलको देखें तो ऐसा केवल अन्तस्तत्त्वको निहारनेसे यह विदित होता है कि—"मम स्वरूप है सिद्ध समान।"

सिद्ध प्रभुकी भांति अपने स्वभावमें केवल देखनेका यत्न—जैसे यहां व्यवहारमें बातचीतमें कहा करते हैं किसी नग्न पुरुषको देखकर, जिसपर वस्त्र डोरा कुछ भी नहीं है, उस नग्न पुरुषकी चर्चा करते, चाहे सामान्यजन नग्न हों अथवा साधुजन हों, जब यह चर्चा करते कि इसका रूप ऐसा नग्न है तो क्या यह नहीं कह सकते कि जितने कपड़े पहिनने वाले लोग हैं वे सब भी इस ही प्रकार नग्न हैं? जैसा कि नग्न कपड़ोंका त्याग करने वाला है? कपड़ेके भीतर सब लोग वैसेके ही वैसे नग्न हैं। क्या उसमें कुछ अन्तर है? तो इसी तरह सिद्ध भगवान हैं पूरे नग्न। जिनपर शरीरका आवरण

कर्मोंका आवरण नहीं, विभावोंका आवरण नहीं, ऐसे शुद्ध नग्न हैं सिद्ध भगवान। तो जैसे केवल परिपूर्ण नग्न सिद्ध प्रभु हैं क्या इस प्रकारसे केवल परिपूर्ण नग्न हम आप सब नहीं हैं ? आवरणसे पृथक् शरीर और नोकर्मसे पृथक् अस्तित्व है यह तो प्रकट बात है, इनके भीतर तो हम सुगम नग्न हैं। मैं आत्मस्वरूप ऐसा केवल नग्न हूं जैसा कि कपड़ेके भीतर पुरुष साधुकी तरह नग्न है। अब रही विभावोंकी बात कि रागादिक विकारोंसे भी परे, इन आवरणोंसे भी निराला नग्न यह मैं आत्मतत्त्व हूं, सो यह परख परम पैनी विवेक छेनीसे भिन्न करके की जा सकती है।

स्वभाव और विभावके भेदविज्ञानमें भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा—भैया! भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा स्वभाव विभावके भेदनमें ही है। शरीरसे निराला मैं हूं ऐसा कहकर भेदविज्ञानजात अमृत रसका स्वाद नहीं लिया जा सकता। द्रव्यकर्मसे निराला हूं ऐसा कहकर भी भेदविज्ञानसे आने वाले अमृत रसका स्वाद नहीं लिया जा सकता है। पर इस भेदविज्ञानामृतका पूर्ण स्वाद, यहां स्वरूप और विरूपमें स्वभाव और विभावमें जब भेदविज्ञान किया जाता है और वहां धीरे-धीरे भीतर ही सरककर अपने आपके स्वभामें उपयोग रमाकर जब बोध होता है, अनुभव होता है, प्रतिभासमात्र सत्, इस तरहसे जब अनुभव होता है स्वभावका, तो इस स्वभाव और विभावके भेदानुभवके समय इस भेदविज्ञानानुभूतिसे प्राप्त अन्तस्तत्त्वामृतरसका स्वाद आया करता है। इस भेदविज्ञानकी उत्कृष्ट स्थितिमें पहुंचनेके लिए शरीरसे निराला मैं हूं यह भेदविज्ञान सहयोगी है, कर्मसे निराला मैं हूं यह भेदविज्ञान सहयोगी है, पर साक्षात् अमृतरसका स्वाद दिलानेवाला स्वभाव और विभावका भेदविज्ञान है। इस भेदविज्ञानके जरिये मैं न रागादिक विकारोंके भीतर भी नग्न केवल हूं। जैसे कि सिद्ध न प्रकट नग्न है, केवल हैं, अपने मात्र स्वरूपमें हैं। इस

प्रकारकी शुद्ध हम अपने आत्मामें स्वभाव विभावके बीच भेदविज्ञानकी दृष्टिसे कर सकते हैं।

सिद्ध समान प्रतिभासमात्र स्वरूपके अनुभवमें पुनीत निर्भरता—यहाँ अपने आत्माका ही विचार चल रहा है। मैं अर्थात् प्रतिभासमात्र पदार्थ सिद्धके समान हूं। ऐसा साम्य अनुभव करनेपर और यह विदित किया जानेपर कि मैं तो प्रतिभासमात्र पदार्थ हूं। अहंकार ममकारके सारे बन्धन टूट जाते हैं। इस प्रतिभासमात्र पदार्थका पर होना, कुटुम्ब होना कितनी बेतुकी बात है। यह प्रतिभासमात्र पदार्थ मैं प्रतिभासस्वरूप ही हूं। प्रतिभासमें ही मेरा सारा सर्वस्व है। किसी भी अन्य पदार्थका रंच भी सम्बंध नहीं है। कभी हो ही सकता। उपयोगको बार-बाहर भ्रमानेसे, कल्पनामें सम्बंध माननेसे, इस जीवने अपने आपपर भार बढ़ा लिया है। प्रतिभासमात्र पदार्थ जैसा कि सहज अस्तित्वमें मैं हूं, उसपर कुछ भी भार नहीं है, वह निर्भार है। अमूर्त आकाशमें कहीं भार आ सकता है क्या? इसी प्रकार अमूर्त प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्वमें कोई भार भी बना हुआ है क्या? जैसे आकाश अनादिसिद्ध है वैसे ही यह प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्व मैं भी अनादिसिद्ध हूं, किन्तु एक उपयोग गुणकी विशेषता होनेके कारण अनादिबद्धतासे यह जीव बाहरमें उपयोग भ्रमाता है, सम्बंध बनाता है, कल्पनायें करता है, यह मेरा है, बस इतनी कल्पनाभरसे इस जीवकी और विडम्बना इतनी बड़ी बन गई कि जिसका कोई पार नहीं।

केवल स्वरूपके भान बिना होनेवाली विडम्बनाका दिग्दर्शन—नाना प्रकारके देहोंमें बंधकर यह जीव जन्म-मरण किया करे, अपनी सुध भूला रहे, नाना क्लेश पाता रहे, यह इस जीवकी विडम्बना नहीं तो और है क्या? आज थोड़ासा पुण्य पाया, मन पाया, साधन-सामग्री पाया, फूले नहीं समाते; अथवा चिन्ता कल्पनामें ही निरन्तर समय

बहुत काल तक रोता रहता है, क्योंकि दृष्टिमें यह बनाया है कि वह मेरा इष्ट था और गुजर गया। ऐसा सोचते-सोचते कुछ समय बीतने पर जब थक जाता है और उस सोचनेकी कमी आती है तो वहां कमी जो एक असम्बन्धप्रतीतिका क्षण आता है सुख तो हुआ उसके कारण, पर यह उसको पकड़ नहीं सकता कि यह सुख इस विवक्तताके आंशिक विलासके कारणसे हुआ। जितने भी अब भी सुख होते हैं वे असम्बंध और काम करनेको नहीं पड़ा, इन दृष्टियोंसे हुआ करते हैं। किन्तु लोग चूंकि परद्रव्योंके लोभी हैं और इस यथार्थताकी प्रतीति नहीं है सो इस तथ्यका परिज्ञान न करके यह मान रहे हैं कि मुझको सुख हुआ है, तो इस सम्बंधसे और इस कार्यसे हुआ है। इस तथ्यका जिन्हें परिचय है वे सिद्ध भगवानके स्वरूपमें कोई सन्देह ही नहीं करते। सिद्ध प्रभुका किसी भी बाह्य पदार्थसे रंच सम्बंध नहीं है उपयोगकृत भी सम्बंध नहीं है और वे अपने स्वभावसे अपनेमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य करते रहते हैं, इससे आगे वस्तुका काम ही नहीं है। इसी कारण वे परिपूर्ण ज्ञानी हुए हैं सो वे निरन्तर अपने आपमें भरे हुए आनन्दका अनुभव किया करते हैं। तो प्रभुमें यों अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनन्द है और ज्ञानका सहभावी अनन्त दर्शन है और इन सबको सम्हालने रहनेकी अनन्त शक्ति है। ऐसे व्यक्त अनन्त चतुष्टयमय सिद्ध प्रभुके समान सहजानन्त चतुष्टय स्वभावमय मुझ आत्माका अन्तः स्वरूप है।

आत्मा व परमात्मा में अनन्तज्ञान स्वभावकी समानता—अष्ट कर्मोंका ध्वंस करके अथवा अपने आपके शुद्धोपयोगकी सम्हाल करके जिसके कारण अष्ट कर्मोंका ध्वंस स्वयमेव हो जाता है, जिन संत आत्माओंने शरीररहित होकर कर्मरहित होकर रागादिकविकाररहित होकर ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण लोकके अन्तमें अवस्थान पाया है, ऐसे समस्त अनन्त सिद्धोंमें जो अनन्त ज्ञान पाया जाता है वह कहीं

न्य चीज नहीं है, अन्य जगहसे आया हुआ विकास नहीं है, नन्तज्ञानस्वभाव आत्मामें अनादिसे है। वही अनन्तज्ञान स्वभाव-नक आवरणोंके अभावसे स्वयं प्रकट हुआ है। जिस अनन्तज्ञान भावका आधार लेकर सिद्धका अनन्तज्ञान प्रकट हुआ है वह आधार, ह अनन्तज्ञानस्वभाव हममें उस ही प्रकार है जैसा कि सिद्धमें है। द भगवन्तमें प्रतिक्षण केवलज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, यहां सदृश परिणमन नहीं है। यहां भी आधार तो वही है, शाश्वत है, तु छद्मस्थ अवस्था होनेके कारण हमारी दृष्टि अपने आपके स्वभावका आधार बनानेकी नहीं बन रही है। इसमें अन्तर आया है सिद्ध प्रभुमें और मुझमें।

आत्मा व परमात्मामें अनन्तदर्शन स्वभावकी समानता—प्रभुमें जो अनन्तदर्शन प्रकट है वह कहीं अन्य जगहसे आया हुआ नहीं है, किन्तु अनन्तदर्शन स्वभाव आत्मामें है, उसका आधार लेकर, आलम्बन करके अनन्तदर्शन प्रकट हुआ है, ऐसा अनन्तदर्शन स्वभाव ही बाधक आवरणोंके अभावसे इस व्यक्त अनन्त दर्शनकी स्थितिमें हुआ है। जिस अनन्त दर्शन स्वभावका आधार लेकर सिद्ध भगवन्त अब भी प्रतिक्षण केवल दर्शन परिणमनसे परिणमते रहते हैं वह आधार हममें भी है, किन्तु हम उस आधारका आलम्बन नहीं ले रहे हैं। कहीं बाह्य दृष्टि बन रही है, यहां नहीं समाया जा रहा है, यही अन्तर है। पर मूलस्वभावको देखा जाय तो जो अनन्तदर्शन स्वभाव सिद्धमें है वही अनन्तदर्शन स्वभाव हम आप सब जीवोंमें है।

आत्मा व परमात्मा में अनन्तानन्दस्वभावकी समानता—ऐसे ही प्रभुमें जो अनन्त आनन्द व्यक्त हुआ है वह अनन्त आनन्द किसी बाहरी जगहसे नहीं आया। उसका कुछ भी लगार लेश आधार न हो और एकदम प्रभुमें अनन्त आनन्द आया हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु अनन्तानन्दस्वभाव इस जीवमें शाश्वत ही है। अनन्तानन्दस्वभावी

इस चित्स्वभावका उन सन्तोंने आलम्बन लिया जिसके प्रसादसे अनन्त आनन्द व्यक्त हुआ है। जिस अनन्त आनन्द स्वभावका आधार लेकर अब भी अनन्त आनन्द परिणमनमें प्रतिक्षण परिणमते रहते हैं सिद्ध। वह अनन्तानन्दस्वभाव हम आप सबमें है।

आत्मामें परमात्मस्वभावसाम्य होनेपर भी भिखारीपन और अज्ञानपर आश्चर्य—यों इस स्वभाव दृष्टिसे हमारा और सिद्धका स्वरूप समान है, परन्तु आज हम आपपर क्या बीत रही है कि भिखारी बने हुए हैं, अज्ञानी बने हुए हैं। भिखारी कहते उसे हैं जो दूसरोंसे भीख मांगे। जैसे यहां भिखारी लोग नजर आ रहे हैं। भीख मांगनेका मतलब क्या है, भीख मांगनेका मूल आधार क्या है? आशा। आशा लगी है कि यहां दो रोटियां मिल जायेंगी। यहांसे कुछ पैसे मिल जायेंगे। इस आशासे भिखारी लोग घर-घर भीख मांगते हैं। यहां सभी संसारी जीव और कर क्या रहे हैं। इन्हें परपदार्थोंसे आशा लगी है सो प्रत्येक पदार्थके निकट पहुंच-पहुंचकर उन पदार्थोंसे सुख-शान्तिकी भीख मांगा करते हैं। यों संसारके प्राणी भिखारी हो रहे हैं और निपट अज्ञानी बन रहे हैं। जिनको अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं है, जो इस आनन्दमय निज ज्ञानतत्त्वमें समाये जानेकी बात सोचते नहीं हैं, जिनके ज्ञानप्रकाशमें यह मार्ग आया भी नहीं है वे लोग चाहे कितने ही चतुर बनगए हों, पर उनकी चतुराईका उपयोग क्या? बाह्य पदार्थोंमें आकर्षित होना और उनमें सुधार बिगाड़ करनेकी कल्पनाओंके विकल्पोंमें अपने क्षण गवाना, यहां कुछ मिलना नहीं है, अपना कुछ विकास होना नहीं है। इन व्यर्थके झंझटोंमें उधेड़बुनमें लगना यह क्या कोई विवेकका काम है? यह तो प्रकट अज्ञान है। तो हम आपका स्वरूप इतना पावन सुगम स्वयं स्वाधीन आनन्दमय होकर भी आज जो स्थिति बीत रही है कि हम , ंकि भिखारी बन रहे हैं और यहां अज्ञानमें सदा लगे

रहने हैं यह सब है इस आशा पिशाचीका परिणाम।

इस प्रकार संसारमें शान दिखानेकी व्यर्थता—यह दिखती हुई दुनिया, जिसके लिए शान बगराई जा रही है यह दुनिया क्या है? प्रकट मायास्वरूप, कर्मके प्रेरे नाना देहोंमें बंधने वाले जीवलोकोंका समूह, जो स्वयं अशरण हैं, स्वयं दुःखी हैं। यह है मायामयी दुनिया, और फिर इस दुनियाका क्षेत्र कितना है? अनगिनते योजनोंका, जिसकी कोई संख्या ही नहीं है। ३४३ घनराजू प्रमाण इतनी बड़ी दुनिया जिसके समक्ष परिचयवाली दुनिया कितनी है? जैसे बहुत बड़े स्वयंभूरमण समुद्रके आगे जलकी एक बूंद, इतनी बड़ी दुनियामें यह परिचयकी दुनिया है, और फिर यहा कितने समय रहना है? सारा समय कितना होता है? अनन्त। क्या कोई ऐसा सोच सकता है कि कोई ऐसा समय था कि जिसके पहिले कुछ समय ही न था, क्या कोई ऐसा सोच सकेगा कि कोई ऐसा समय आयगा कि जिसके बाद फिर समय ही न रहेगा? इतना अनन्तकाल, जिसके सामने हम आपका यह १०-२०-५० वर्षका समय कुछ गिनती भी रखता है क्या? इसके लिए तो यह दृष्टान्त भी काफी नहीं बन पाता कि स्वयंभूरमण समुद्रके आगे जलकी एक बूंद। अनन्तकालके सामने वर्षोंकी क्या बात? एक दो कल्पकाल भी कुछ गिनती नहीं रखते। तब समझ लीजिए कि कितनी देरके लिए कितनेसे क्षेत्रमें, किन लोगोंमें हम अपना इज्जत बनाना चाहते हैं? अरे बतानेका चक्कर छोड़ो। लोकमें शान इज्जत बनानेका विकल्प तोड़ो। अपने आत्माके इस चैतन्य महाप्रभुकी रक्षा करो जो तुम्हारे आनन्दका धाम है, जिसके प्रसादसे तुम्हारा भला हो सकता है उस कारण परमात्मतत्त्वकी सुध लो।

ज्ञान खोने वालेकी महती विपत्ति—यह आत्मा स्वरूपदृष्टिसे सिद्धके समान है किन्तु आशावश खोया ज्ञान। ज्ञान खोनेके कोई दुःख नहीं है, जिसे लोग दुःख कहा करते हैं यह

पुण्यका ऊधम है। जरा साधन अच्छा मिला, ठाटसे रहनेको मिला तो जरा-जरासी बातमें कल्पना करके दुःख बना लेते हैं। जैसे चलते जा रहे हैं, किसीने रामराम न किया तो यह पुण्यवाला पुरुष, अज्ञानी पुरुष व्यर्थ कल्पनायें करता है कि अब लोग इतना उद्दण्ड होगए, ये देहाती भी राम-राम करना भूल गए—अरे भाई पहिले तुम्हीं राम-राम करलो, जीव तो सब समान हैं, लेकिन पुण्यके ये सब ऊधम हैं। जितने भी दिखावट, बनावट, सजावट आदिके ऊधम आज किये जा रहे हैं करलो, पर ये ऊधम सदा न निभेंगे। ज्ञान खोनेके बराबर और कोई विपत्ति नहीं है, जिनका ज्ञान सावधान है, जो अपने ज्ञानस्वरूपकी सम्हाल रखते हैं उनका वह ज्ञान है। जो ज्ञान अपने आपका भी स्वरूप नहीं समझ सकता, अपने आपका भी अनुभव नहीं कर सकता वह ज्ञान ज्ञान नहीं है बल्कि अज्ञान है।

प्रतिभासमात्र व अमूर्त आत्मस्वभावकी अनुभूतिका विधान देखिये—अपना स्वरूप सम्हालनेके मार्गमें आत्माका अनुभव करनेके अर्थ आप यदि लगनसे केवल दो पद्धतियोंमें ही आत्माका चिन्तन करेंगे तो आत्मानुभवमें सफलता पायेंगे। अपने आपका चिन्तन करनेसे आप इस अन्तः आनन्द धाममें पहुंच सकते हैं, जिसके कारण ऐसी उत्कृष्ट प्रसन्नता होगी कि आप अपने आपको कृतार्थ अनुभव करेंगे। इस कृतार्थताके अनुभवसे बढ़कर अन्य कोई साम्राज्य नहीं। अपनेको अमूर्त चिन्तन करनेमें इस मूर्त देहका भी भान नहीं रहता। वहां निरखें अपनेको केवल ज्ञानमात्र, प्रतिभासमात्र। तो अमूर्त और प्रतिभासमात्र इन दो पद्धतियोंसे अपने आपके अन्तः उपयोगको ले तो आइये, वह आनन्द प्रकट होगा, वह प्रकाश होगा कि जिसके प्रतापसे आप तुरन्त यह निर्णय कर लेंगे कि मेरे करनेको तो बस यही एक काम है, दूसरा कोई काम ही नहीं है।

[illegible] भेद—इस ज्ञानस्वरूपकी सुध न रखनेसे

कर करके आखिर उनको लाभ क्या मिलता है ? हानि तुरन्त यह है कि ऐसे परम पावन उत्कृष्ट निज परमात्मतत्त्वके दर्शन नहीं हो पाते, जिससे कि यह नर जीवन सफल हुआ करता है। यह भव ज्ञान और वैराग्यके विकासके लिए है, अन्य कार्यके लिए नहीं है।

रसना और घ्राण इन्द्रियके वश होनेका खेद—आशाके वश होकर लोग सरस भोजन करनेकी भी धुनमें बने रहते हैं। कितना व्यर्थका विकट ख्याल। क्या होता है इससे ? जो शरीर जला दिया जायगा, जिससे कोई प्रीति करने वाला नहीं, स्वयंके लिए जो अनेक क्लेशोंका कारण है, उसकी तृप्तिके करनेके लिए सरस भोजनकी धुन बनाना यह एक ऐसी व्यर्थकी कल्पना है कि जिसकी ओटमें सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन नहीं हो पाते। कितनी ही आशायें ऐसी व्यर्थकी हुआ करती हैं कि जिनसे न इस जीवनकी उन्नतिका सम्बंध है और न परलोककी उन्नतिका सम्बंध है। कितने ही लोग घ्राणेन्द्रियके विषयकी आशामें समय गंवाते हैं। इतनी तरहके इत्र, ऐसे-ऐसे फूल, ऐसी सुगंध होने चाहिए, उसमें रत रहते हैं। सुगंधित तैल इत्र सिरमें लगायें, माथेमें लगायें, कानोंमें लगायें, कोट कमीज आदिमें लगाये, यों अनेक तरहसे सुगंध लेते हैं। अरे इन आशाओंमें, इन व्यर्थकी कल्पनाओंमें रहकर अपने आपकी सुध नहीं ली जा सकती। विरक्तिसे ही ज्ञानका अनुभव पाया जा सकेगा। रागसे, आसक्तिसे अपना शुद्ध नहीं पाया जा सकता।

चक्षु और कर्ण इन्द्रियके वश होनेका खेद—रूपके अवलोकनकी बात देखो—दूरसे ही रूपका दिखना होता है, लाभ कुछ नहीं मिलता, हाथ कुछ नहीं लगता, यह तो एक अज्ञान पर्याय है, पर कैसी कल्पनायें बना लेता है यह जीव। सनीमा हालोंमें बड़ी भीड़ रहा करती है, और-और भी अनेक समय, न जाने कहां-कहां इसकी दृष्टि, इसकी धुन रहा करती है। व्यर्थकी ये बातें हैं जिनसे न इस ही

वैभवकी उन्नतिका कुछ सम्बंध है और न परलोककी उन्नतिका ही
इक सम्बंध है। ऐसे ही राग-रागनीभरे शब्द सुन लिया, उसमें
हो गए विभोर। अरे तो उससे लाभ क्या पाया? अपने आपमें
विराजमान सहज परमात्मतत्त्वके दर्शनसे तो वंचित हो रहे।"

मनके अनुसार स्वच्छन्द प्रवर्तनका खेद—मनके विषयकी तो कहानी
ही क्या करें—इस मनने तो सभी संज्ञी जीवोंको हैरान किया।
क्या-क्या चाहते हैं दुनियामें रहकर लोग? इसका यदि विश्लेषण
करें तो उसमें सार रंचमात्र भी नहीं निकलता। जैसे एक कथानक है
कि कोई सन्यासी लड्डू लिए हुए चला जा रहा था। रास्तेमें उसके
हाथसे छूटकर लड्डू नीचे जमीनमें गिर गया। वह शौच की हुई जगह
थी। पर लड्डूमें आसक्ति होनेके कारण सन्यासीने वह लड्डू उठा
लिया, पर उसे कुछ भान होगया कि हमको इस जगहसे लड्डू उठाते
हुए कुछ लोगोंने देख लिया है, सो उस बातको ढांकनेके लिए
संन्यासीने उस शौच वाली जगहपर कुछ फूल डाल दिये। लोगोंने
देखा कि महाराजने इस जगह फूल चढ़ाये हैं, इस जगह कोई देवत
होगा। यह सोचकर उन लोगोंने भी उसी जगह फूल चढ़ा दिया।
यों ही अन्य बहुतसे लोगोंने भी उस जगह देवता समझकर फू
चढ़ाया। यों उस जगहपर फूलोंका एक बहुत बड़ा ढेर लग गया। अ
वहां देखो अगर कोई तथ्य उस जगह समझना चाहें तो फूलोंको च
जगहसे निकाल-निकालकर फेंक दें। सार वहां क्या मिलेगा, कुछ
नहीं, और प्रवृत्तियां कितनी अधिक होगयीं। इसी तरह मनकी
इच्छायें चलती हैं, जिनके कारण हम अनेक प्रवृत्तियां किया करते
अगर वहां विश्लेषण करके देखा जाय तो क्या मिलेगा? वहां रंच
भी सार नजर न आयगा। लेकिन जीव आशाके वश होकर,
खोकर भिखारी बने हैं, निपट अज्ञान बने हैं। एक उस
प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्वके दर्शनसे ये सारे संकट दूर हो सकते

आशाकी तरंगके क्षोभका क्लेश—जीवको क्लेश है तो एकमात्र आशाकी तरंगके उत्पन्न होनेका है। जिस जीवको ऐसी तरंग उत्पन्न नहीं होती, चेतन अचेतन किसीभी पदार्थके सम्बंधमें आशाका भाव नहीं जागता, किसी प्रकारका राग या उनसे अपने लिए कुछ चाहनेकी बात नहीं होती है, वह पुरुष स्वयं ही आनन्दमय है। आनन्दमें बाधा डालने वाली यह आशा है। जैसे समुद्र बहुत शान्त अवस्थित है, उसमें क्षोभ मचाने वाला कोई पत्थरको पटक देता है, पत्थर पटका गया तो लो, तभी इसमें भवर, लहर हुई। यों ही यह आत्मा ज्ञानी है, ज्ञानज्योतिसे लबालब भरा हुआ है। इसके अन्दरमें प्रदेशमात्रका भी ज्ञानघनतामें अन्तर नहीं। ऐसे ज्ञानघन शान्त गम्भीर इस आत्मामें जैसे ही आशाका पत्थर गिरा कि झट तरंग उठी, और यह आत्मा अपने आपको खलभला कर बरबाद होता है, अशान्त होता है। जरूरत क्या पड़ी है कि किसी पदार्थकी आशाका भाव चित्तमें लायें? बहुत विवेकसे अपने अन्तः स्वरूपके निकट ठहर-ठहरकर निर्णय तो करिये। क्या यह आत्मा कुछ आनन्दसे खाली है? आनन्द नहीं है इसके पास सो दूसरेसे आनन्द मिल जायगा एतदर्थ ही किसीकी आशा की जायगी, सो इस सम्बन्धमें प्रथम तो यह बात है कि आत्मामें यदि आनन्दस्वभाव न होता तो कितने भी निमित्त जुटाये जायें, तो भी इसमें आनन्दका विकृत अंश भी उत्पन्न नहीं हो सकता था। बालूमें यदि तैल नहीं है तो कितना ही उसे घानियोंमें पेला जाय, पर क्या उससे तैल निकल आयगा? नहीं निकल सकता। फिर दूसरी बात यह है कि आत्माके विशुद्ध आनन्दका अभ्युदय इस ही स्थितिमें है कि यह किसी परकी ओर अपनी दृष्टि न करे, अपना आकर्षण न बनाये। किसी भी परके सम्बंधमें स्नेहकी बात न लाये। आशासे तो, परदृष्टिसे तो आनन्दमें बाधा ही आती है, आनन्दमें १५ नहीं मिलती। यों आशा करना बेकार है।

विषयाशामें कालनिर्यापन और उसमे क्लेशवर्द्धन—भव-भवमें जो-जो समागम मिले उन-उन समागमोंमें इस जीवने आशा रखी, न वे समागम रहे न ये आशाकी वृत्तियां रहीं और यह जीव संसारमे रुलता चला आ रहा है, यह उसका फल मिला। जो चीजें १०-५ वर्ष बाद संगमें रहेंगी, कुछ दिन बादमें न रहेंगी, उनके लिए अभीसे हिम्मत बनाकर मानलें कि ये कुछ भी चीजें मेरी नहीं हैं, उनसे मेरेमें कुछ भी अभ्युदय नही होता है, बाधा ही होती है। छूटना तो सब कुछ है ही, पहिलेसे अपनेको छूटा हुआ विविक्त ज्ञानस्वभावमात्र निरखते रहें तो तत्काल भी आनन्द पा लिया जायगा और कर्मबन्ध भी इसके कट जायेंगे, अपना सार शरण सर्वस्व अपने आपके अन्त. मोजूद है। अपनी समृद्धि किसी अन्य पदार्थसे प्राप्त होती नहीं है। ऐसे अपने इस ज्ञानस्वभावकी सम्हाल न करके ये अज्ञानी जीव पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी और मनके विषयोंकी आशा कर रहे हैं, इसी कारण ये भिखारी और अज्ञानी बने हुए हैं। देखो—मनुष्यके अतिरिक्त अन्य जीवोंपर दृष्टि डालकर जैसे कि अनेक जीव ऐसे हैं कि जिनको अपना कोई प्रमुख एक ही विषय सता रहा है, अन्य विषय नहीं सता रहे। और, वे एक ही विषयके सताये हुए होकर अपने प्राण गंवा देते हैं। फिर तो ये मनुष्य ५ इन्द्रिय और छठा मन इन छः विषयोंसे सताये हुए हैं, इनकी क्या गति होगी ?

स्पर्शनेन्द्रियके वश होकर आत्महिंसनका प्रयत्न—हाथीको पकड़ने वाले शिकारी लोग जंगलमे ४०-५० हाथका लम्बा, चौड़ा कुछ गहरा गड्ढा खोदते हैं, उसपर बांसकी पतली पंचे विछाते हैं और उसपर कागजोंसे सजाकर एक हथिनी बनाते हैं जो सच्ची हथिनीकी तरह जचती हो। साथ ही ४०-५० हाथ दूर एक झूठा हाथी भी बनाते हैं। किसलिए बनाते हैं शिकारी लोग, यों कि जंगलमें रहने वाला कोई हाथी इस हथिनीको सच्ची हथिनी जानकर स्पर्शनइन्द्रियके

मछलीने अपना प्राण गंवा दिया। यहां हम आप लोग रोज-रोज अपने घर खाते हैं तो खूब मनमाना जो ध्यानमें आया वैसा ही, मजेदार सरस भोजन बनवाते हैं। सोचते होंगे कि यहां तो हमारे प्राणोंपर कोई फंदा नहीं डलता। रसना इन्द्रियको भी तृप्त कर लेते हैं, मौज भी मान लेते हैं पर हमारे प्राणोंपर तो कोई फंदा नहीं आता। अरे तुम्हें पता भी है, तुम्हारा प्राण असली है भो क्या? आत्माका वास्तविक प्राण है चेतना, चित्स्वरूप, प्रतिभासमात्र। वह प्राण तो दबुच गया है, उस चैतन्यप्राणका तो घात ही हो रहा है। कर्मबन्ध हो रहा है और दुर्लभ मनुष्यजन्मका समय व्यर्थ व्यतीत हो रहा है। और, जिसको रसना इन्द्रियका इतना तीव्र लोभ है वह यह न समझे कि मुझको एक इन्द्रियके विषयका ही लोभ है। रसना इन्द्रियके विषयकी आशक्ति तो एक समस्त विषयोंकी आशक्ति जाननेका यंत्र है। यह इन विषयोंकी आशासे अपने चैतन्यप्राणका घात कर रहा है। उन मछलियोंको कीर्ति, नेतागिरी, यश आदिकके कोई विषय तो नहीं सता रहे। हां, वे मछलियां एक-दूसरेसे लड़ती भी हैं, एक-दूसरेको ढकेलती भी हैं, मन उनके भी हैं, बात आती होगी चित्तमें, अरे इसने मुझे तुच्छ समझ रखा, किन्तु कोई बड़ी बात इन मछलियोंके मनमें नहीं आती जितनी कि मनुष्योंके मनमें आती है। देखो ऐसी समझदार मछलियां भी रसना इन्द्रियके वश होकर प्राण गंवा देती हैं।

घ्राण इन्द्रियके वश होकर आत्महिंसनका प्रयत्न—कमलका फूल, [illegible] होती है, लेकिन इस [illegible] और उसकी सुगंधमें [illegible] न रहे, सामको हो जाता है फूल बन्द। उस बन्द कमलमें वह भंवरा जो कि बड़ी काठकी कड़ियोंको भी छेद करके पार निकल सकता है वह आशक्तिवश

कमलके अत्यन्त कोमल पत्तोंको भी छेदकर नहीं निकलना चाहता और उस कमलमें ही छिपा हुआ अपने प्राण खो देता है। घ्राणेन्द्रियके विषयकी इतनी तीव्र आसक्ति होती है। वहां किया क्या ? आसवश खोया ज्ञान। फल क्या पाया ? मरण। कोई-कोई मनुष्य सुगंधके इतने लोभी होते हैं कि उनके रहनेके कमरेको, उनके पहिननेके वस्त्रोंको, उनकी उन सजावटोंको देखकर कोई मनुष्य ऐसा शीघ्र कह भी देते हैं कि ये सब इनके नखरे हैं। नखरेका अर्थ क्या ? न खरे, जो खरा नहीं है, जहां संतकी बात नहीं है, जहां कोई तत्त्वकी बात नहीं है उसको कहते हैं नखरे।

चक्षुरिन्द्रियके वश होकर आत्महिंसनका प्रयत्न—रूपमें अवलोकनकी आशा इतनी बड़ी आशा है कि जहां कुछ मतलब नहीं, प्राप्ति नहीं, कुछ लाभ नहीं, कोई सम्बंध नहीं, लेकिन जो इष्टरूप जचा उसके अवलोकनकी आशा और प्रवृत्ति बना लेते हैं। होता क्या है ? आशा-वश खोया ज्ञान। मैं कौन हूं, मेरा क्या नाम है, इसका ऊपरी विवेक भी नहीं रहता, आत्मतत्त्वके विवेककी तो कथा ही क्या है ? देखो दीपकके पतिंगोंको कैसा रूपका लोभ है कि उनसे रहा नहीं जाता और जलते हुए दीपपर एकदम गिरते हैं। क्या पानेके लिए गिरते हैं ? कितना तीव्र लोभ है, फल क्या होता है कि मर जाते हैं ? क्या उनको यह बोध नहीं है कि यहां १०–२० पतिंगे मरे पड़े हैं क्या उन्हें दिखता नहीं है ? क्या उन्हें इतना भी बोध नहीं है कि ये मेरी बिरादरीके सारे मरे पड़े हैं ? नहीं हैं उनके मन, पर मनका काम तो हित अहितका विवेक करा सकना है। मनमें हित अहितका विवेक करनेका सामर्थ्य है सो प्रबल ठहरा ना। सो जब उल्टा चलें तो यह मन विषयोंकी आशाको बढ़ा देता है। पर, मन न हो तो विषयोंकी आशा न हुआ करती हो यह बात नहीं है। चार संज्ञाओंसे पीड़ित यह प्राणी विषयभोग विषयक तो ज्ञान कुछ ऐसा ही रखता है

कि मंखी लोग। ये पतिंगे तुद्र भी विवेक न रखकर एकदम रूपके लोभमें दीपकपर आ गिरकर प्राण गंवा देते हैं। यह है क्या ? आशावश खोया ज्ञान। उन मनुष्योंकी भी ऐसी ही दुर्दशा होती है जो रूपके आशक्त होते हैं।

कर्ण इन्द्रियके वश होकर आत्महितका प्रयत्न—कर्ण इन्द्रियके वश होकर सर्प बीनकी आवाजमें, रागमें मस्त होकर निकट आ जाते हैं। अपनी सुध भूल जाते हैं, सपेरा पूंछकी ओरसे पकड़कर तुरन्त ही बड़ा झटका देता है। ज्यों ही पीछे पकड़कर झटका दिया कि उसके सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। देखो सर्पके संहननका उदाहरण असंप्राप्तसृपाटिका संहननको दिया जाता है। तेज झटका देनेसे सर्पकी नसें पञ्जरको छोड़कर शिथिल हो जाती हैं। हिरण भी इसी तरह वशमें किए जाते हैं। तो एक-एक इन्द्रियके विषयके वश होकर इस प्राणीने अपने प्राण गवाये। और, यहां संसारमें लोकोत्तम दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर फिर विषयोंकी आशाका आशय बनाये रहें तो इस मनुष्यभवसे कितनी दुर्गति हो सकती है। कहीं भी किसी भी गतिमें चला जाय, इस मनुष्यको कोई रुकावट नहीं है। निगोद बन जाय, पेड़-पौधे बन जायें, पशु-पक्षी बन जाय, नारकी बने, कहीं भी उत्पन्न हो सकता है। किया क्या इस जीवने ? आशावश खोया ज्ञान। परिणाम क्या हुआ ? बना भिखारी निपट अजान।

स्नेह परिणमनका लोभ—परिजनको किसीको स्नेह मेरा समझमें आ जाय कि यह मुझसे बड़ा स्नेह रखता है, इस ही समझका बड़ा लोभ लगा हुआ है। मिला क्या ? एक अपनी यह कल्पना बना लेनेसे कि यह भाई मुझको बहुत अधिक चाहते हैं। यहां पा क्या लिया ? अटपट बेतुकी आशाको यह जीव करता है। यह ध्यानमें नहीं कि मैं क्या हूं और क्या कर रहा हूं ? इन दोनोंका उत्तर अपने देखो—मैं क्या हूं ? मैं वह हूं जो हैं भगवान। मेरा स्वभाव

मग्न क्या है ? मेरा स्वरूप सिद्ध समान है। अरे हम वह हैं जिसमें
कर्मोंका लेप ही नहीं चढ़ सकता। प्रतिभासमात्र, जिसके कारण
ऐसा उत्कृष्ट मेरा चैतन्यस्वरूप है जो सतत, सहज परम अनन्त
अनन्त स्वभावसे भरा हुआ है। पर, अपने आपका विश्वास खो
दिया जिसका फल यह है कि दुर्गतियोंमें जन्म-मरण करके आरामें
ही सारा जीवन क्लेशमें व्यतीत करना पड़ता है।

संकटनिवृत्तिके लिये सहज अन्तस्तत्त्वकी आराधनाका अनुरोध—भैया !
एक हिम्मत करनेकी बात है, और एक बार भी सर्व परपदार्थोंकी
उपेक्षा करके सहज स्वभावमें अपने उपयोगको लगानेकी बात है।
आत्मा ज्ञानी है, समझदार है। उस स्वभावका अनुभव होनेपर
आनन्दका अनुभव होनेपर फिर इस आत्मामें यह बल व्यक्त
जाता है कि वह संसारके सारे संकटोंसे अवश्य छूट जाता है
जो उपाय सर्व संकटोंसे छुटाने वाला है, उस उपायके लिए ५ मिन
भी समय नहीं देना चाहते। इस उपायके लिए साहस बनाकर सम
विरक्तो भुलाना नहीं चाहते। देखो, चलो अपने स्वरूपकी
इस स्वरूपकी सुधमें यह सारा भिखारीपन नष्ट हो जायगा। सो
रामावरी, इस स्वरूपकी सुध लीजिए और अपनेको कृतार्थ करि
यह स्वरूप क्या है मेरा जिसका आलम्बन लेनेसे सारे संकट
है ? मैं स्वतंत्र हूं, स्वभावतः निश्चल हूं, समस्त विकारोंसे परे
ज्ञाता द्रष्टा ऐसा यह मैं सतत जाननहार आत्माराम हूं।

"सुख-दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुःखकी खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान॥"

जीवोंका समस्त प्रवर्तनोंमें सुखप्राप्तिका प्रयोजन—सुख और
देने वाला अन्य कोई नहीं है, अपना ही मोह राग द्वेष रूप
दुःखकी खान है, दुःखको उत्पन्न करने वाला है अथवा ये
ही स्वयं दुःखरूप है। जीव लोक सभी सुख चाहते हैं और

करते हैं। और वे जितने भी प्रयत्न करते हैं वे सुखके अर्थ प्रयत्न करते हैं। सुख इतनी महती अभिलाप्य चीज हो गयी, कि अन्य-अन्य भी जो कुछ चाहा जाता है वह भी सुखके लिये, अर्थात् सुखप्राप्ति प्रयोजन-सब प्रयोजनोंमें मुख्य प्रयोजन है, बल्कि यों कहो कि जितने भी और-और नामसे प्रयोजन कहे गए हैं वे सब सुख प्रयोजनकी पूर्ति के लिए हैं। कोई लोग कहते हैं कि मुझे तो प्रयोजन सिर्फ विद्याध्ययनसे है अथवा कोई कहते हैं कि मुझे तो सिर्फ इतना ही प्रयोजन है कि मेरा मकान बन जाय आदि। तो इन सब प्रयोजनोंमें भी एकमात्र प्रयोजन है सुखप्राप्तिका। जिस किसी भी प्रकार सुख मिले वैसा प्रयत्न सभी जीव करते हैं। यहां तक भी प्रयत्न करते कि लोग कुवेंमें गिरकर, आगमें जलकर अपने प्राण खोकर भी चाहते क्या हैं? सुख ही चाहते हैं। उनकी कल्पनामें यह बात आयी कि हमें तो कुवेंमें गिरकर या आगमें जलकर मरण कर जानेमें सुख मिल जायगा। कोई कषाय जगी कि हम जलकर मर जायेंगे तो जिसने मुझे सता रखा है, यह पकड़ा जायगा, कैदमें जायगा, फांसी होगी, तो इसकी अकल ठिकाने आयगी, इस प्रकारकी बात मनमें रखकर कुछ क्रोधावेशी लोग अपनी हत्या कर लेते हैं। इन सब बातोंमें भी मूल प्रयोजन है सुखप्राप्तिका। सारांश यह है कि सभी जीव सुख चाहते हैं।

विपरीत उपायसे सुखप्राप्तिका अभाव—अनादिकालसे अब तक सुखके अर्थ इतने प्रयत्न किये जानेपर भी सुखका लेश भी प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि जिस तत्त्वकी प्राप्तिका जो उपाय है उस ही उपायसे वह तत्त्व प्राप्त हो सकता है। सुख प्राप्त करनेके अन्य सब उपाय हैं ही नहीं। बाह्य पदार्थोंमें कुछसे कुछ परिणमन चाहना यह सुखप्राप्तिका उपाय नहीं है। सम्बंध क्या है किसी परसे मेरा? किसी परकी परिणतिसे मुझमें परिणमन नहीं हुआ करता। सिद्ध अवस्थामें तो रंच भी लगाव नहीं है परपदार्थका। यहां हो

[illegible] अनुभव किया जाता है। वस्तुतः यहाँ भी रंचमात्र सनाव
[illegible] यहाँ वैभव जोड़नेमें भी हम पापकार्यों पर दृष्टि देकर
[illegible] रखकर करने कारण परिणमनसे हम राजी रहा करते
हैं। इस परिणमनके कारण मुझमें शान्तिपन नहीं आता। सुख और
दुःख देने वाला जगतमें अन्य चेतन या अचेतन कोई पदार्थ नहीं
है, किन्तु प्राणी बाह्य पदार्थोंसे ही सुख-दुःख समझकर उनके संग्रह
[illegible] प्रयत्नमें लगे रहते हैं, होता है इस प्रयत्नसे क्लेश। जो
[illegible] उपाय है उसके करनेसे सुख प्राप्त कैसे हो सकता है।

निमित्तभूत पदार्थमें वस्तुत्वकी अनात्मता—सुख-दुःखका निमित्त
कर्म है। सो व्यवहार दृष्टिसे देखो तो कर्म भी सुख और दुःखका
देने वाला नहीं, किन्तु सुख-दुःख परिणमनमें कर्म निमित्त है। निमित्त
उसे कहते हैं कि जो कार्यमें मिलकर तो रहे नहीं, किन्तु जिसके अभावमें
कार्य होवे नहीं। जैसे घड़ा बननेमें निमित्त कुम्हारका व्यापार है तो
कुम्हारका व्यापार, कुम्हारके हाथ-पैरकी क्रिया घड़ेमें तो रहती नहीं।
घड़ा अलग चीज है; कुम्हार अलग चीज है लेकिन कुम्हारके उस
प्रकारके व्यापारके बिना घड़ेकी उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे एक
पेन्सिल छीली गई तो उस पेन्सिलके छिलनेमें हम आप निमित्त हैं।
तो देखलो, हम आपके हाथ-पैर अथवा हम आपकी हाथ-पैर आदिकी
कुछ भी क्रिया पेन्सिलमें नहीं पहुँची, पर उस व्यापारके बिना पेन्सिल
छिली नहीं। तो निमित्तका लक्षण यह है कि जिसका नैमित्तिकके
आश्रयमें अत्यन्ताभाव हो, किन्तु नैमित्तिकके साथ अन्वय व्यतिरेक
सम्बंध हो उसको निमित्त कहते हैं। आप यह बात घटाते जाइ[illegible]
हर जगह। आगका निमित्त पाकर जल गर्म हो गया। पर वस्तु[illegible]
जलके गर्म होनेमें आग निमित्त है, उपादान नहीं। इसी कारण आग[illegible]
कोई अंश जलमें नहीं पहुँचता। आगका अंश जलमें पहुँचे तो अ[illegible]
बुझ जायगी, आग ठहर ही नहीं सकती। तो आगका जलमें अभाव [illegible]

कोई अवकाश नहीं है, किन्तु यहां पर इस प्रभुके साथ ममता गौरव नहीं कर सकते, क्योंकि यहां एकदेश आनन्द है, निर्वाद अं च्युतिका संदेह है। जहां आ मार्को आत्मा रूपसे जानने का प्रयोज है, इसकी सीमामें यह बात कही गई थी कि प्रभुने स्पष्ट सबको जा लिया तो हमने भी अस्पष्ट रूपसे सारे विश्वको जान लिया। हमार प्रयोजन न था कि हम अन्य परपदार्थोंके बारेमें अलग-अलग विशेषताओंको जानें। प्रयोजनमात्र इतना था कि समस्त परपदार्थोंसे विविक्त निज स्वरूपमें अपना उपयोग बने।

निजकी बात निरख—यह मैं निज कैसा हूं? अहंप्रत्ययवेद्य। जिसमें मैं मैं की धुन रहती है, शब्द न बोलकर भी अहं प्रत्यय वाच्य तत्त्वका लगाव रहता है, बस वही तो मैं हूं। वह मैं अकेला हूं। इस अमूर्त प्रतिभासमात्र आत्म-पदार्थमें किसी भी अन्यका लगाव नहीं है। जो परिजनोंमें बसकर कल्पनायें बनती हैं—ये मेरे घरके लोग हैं, इनसे मेरा बड़ा महत्त्व है, लोकमें सब लोग मुझे बड़ा सम्पन्न समझते हैं। ये सब जो कल्पनायें हैं वे कल्पनायें इस तरहकी हैं कि जैसे लोकमें कहते कि इसमें जड़ तो कुछ नहीं है और बतगड़ बना दिया है। ठीक इसी तरहकी बात और इससे भी बढ़कर बेहूदी, बेतुकी बात इस सम्बन्धमें है कि मेरा मेरेसे बाहर कुछ भी नहीं है, किन्तु कल्पनामें सारे विश्वको अपना मान रहे हैं।

धर्मपालनकी निर्णयता—धर्मपालन करना है शान्ति पानेके लिए, संकटोंसे छूटनेके लिए। मगर धर्मपालन नाम है किसका? इसका तो पहिले निर्णय कर लीजिये तब तो धर्मपालनकी बात करो। मुझे धर्म करना है, क्या करना है? हाथ-पैर चलाना, तीर्थपर जाना, दीप आदिक उठाकर यहां वहां धरना, गान-तान आदि करना, पूजा-पाठ भजन आदि करना, रस छोड़ना, उपवास करना, एकाशन करना ये सब काम हैं करनेके। अरे भैया! इन कामोंमें ही जिनकी दृष्टि है उनकी

कोई अवकाश नहीं है, किन्तु यहां पर हम प्रभुके साथ समताका गौरव नहीं कर सकते, क्योंकि यहां एकदेश आनन्द है, विशुद्धि और च्युतिका संदेह है। जहां आत्माको आत्मा रूपसे जाननेभरका प्रयोजन है, इसकी सीमामें यह बात कही गई थी कि प्रभुने स्पष्ट सबको जान लिया तो हमने भी अस्पष्ट रूपसे सारे विश्वको जान लिया। हमारा प्रयोजन न था कि हम अन्य परपदार्थोंके बारेमें अलग-अलग विशेषताओंको जानें। प्रयोजनमात्र इतना था कि समस्त परपदार्थोंसे विविक्त निज स्वरूपमें अपना उपयोग बने।

निजकी मन्त निरख—यह मैं निज कैसा हूं ? अहंप्रत्ययवेद्य। जिसमें मैं मैं की धुन रहती है, शब्द न बोलकर भी अह प्रत्यय वाच्य तत्त्वका लगाव रहता है, बस वही तो मैं हू। वह मैं अकेला हूं। इस अमूर्त प्रतिभासमात्र आत्म-पदार्थमें किसी भी अन्यका लगाव नहीं है। जो परिजनोंमें बसकर कल्पनायें बनती हैं—ये मेरे घरके लोग हैं, इनसे मेरा बड़ा महत्त्व है, लोकमें सब लोग मुझे बड़ा सम्पन्न समझते हैं। ये सब जो कल्पनायें हैं वे कल्पनायें इस तरहकी हैं कि जैसे लोकमें कहते कि इसमें जड़ तो कुछ नहीं है और बतंगड़ बना दिया है। ठीक इसी तरहकी बात और इससे भी बढ़कर बेहूदी, बेतुकी बात इस सम्बन्धमें है कि मेरा मेरेसे बाहर कुछ भी नहीं है किन्तु कल्पनामें सारे विश्वको अपना मान रहे हैं।

धर्मपालनकी निर्णयता—धर्मपालन करना है शान्ति पानेके लिए, संकटोंसे छूटनेके लिए। मगर धर्मपालन नाम है किसका ? इसका तो पहिले निर्णय कर लीजिये तब तो धर्मपालनकी बात करो। मुझे धर्म करना है, क्या करना है ? हाथ-पैर धजाना, तीर्थपर जाना, दीप आदिक उठाकर यहां वहां धरना, गान-तान आदि करना, पूजा-पाठ भजन आदि करना, रस छोड़ना, उपवास करना, एकाशन करना ये सब काम हैं करनेके। अरे भैया ! इन कामोंमें ही जिनकी दृष्टि है उन्हें

दीक्षा नहीं और न धर्मका पालन बना। ये सब चीजें सहयोगी धर्मदृष्टिके ये सब सहकारी कारण हैं। जिसके सहकारी कारण हैं का पता ही न हो तो सहकारी कैसे? सर्वप्रथम मूलतः आवश्यक यह कि हम जानें कि धर्म क्या है, तब ही तो हम धर्मका पालन सकते हैं। क्या है धर्म? धर्म वह है जो संसारके दुःखोंसे कर उत्तम सुखमें पहुचाये। अब छांट कर लो—ऐसा कौनसा णमन है जो संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुचा दे। न-बीन करनेके बाद विदित होगा कि आत्माका जो ज्ञानस्वरूप है, भाव है, प्रतिभासमात्र तत्त्व स्वयं अपने आपमें अपने सत्त्वसे जो ना स्वरूप है, जो कि स्थिर है, गम्भीर है, धीर है, उदार है, धारण है, निर्विकल्प है, निर्भार है, ऐसा प्रतिभासमात्र निजस्वरूपकी ष्ट होना, उसमें उपयोग जमना, यह तो धर्मपालन है, ऐसा कोई नो नियमसे उसके संकट दूर होंगे। इसको जाननेके बाद फिर की जानकारी कुछ स्थिर रहे हममें हमारी प्रगति हो। हम बाह्य र्थोंसे हटकर विशेषतया अपने आपके स्वरूपके निकट बसते रहें, यह उपाय और बनाना चाहिए।

शरीरसे स्नेह किये जानेकी उद्दण्डताभरी बात—भैया! रहेगा कुछ हीं यहां अपना। जो समागम मिले हैं ये समागम नियमसे बिछुड़ेंगे र जितने कालके लिए ये समागम हैं उतने कालके लिए भी उनसे ोभ ही मिलता है, शान्ति नहीं मिलती, इस कारण किसी परपदार्थका यान करना, किसी परको अपने चित्तमें जमाना योग्य बात नहीं। तमस्त पर मेरे लिए असार हैं। सबसे विकट स्नेह तो चेतन पदार्थोंमें आ करता है। घरमें बसने वाले स्त्री, पुत्रादिक परिजनोंसे बड़ा विकट स्नेह हुआ करता है। पर यह तो निर्णय करलो कि जिनसे आप स्नेह करते हैं उनका स्वरूप क्या है? किससे आप स्नेह करते हैं? प्रसनमे दो चीजें हैं—शरीर और जीव। शरीरसे आप स्नेह करते

हैं क्या ? दृष्टि तो ऐसी ही है कि शरीरको ही सब कुछ समझकर, उससे ही अपना परिचय बनाकर शरीर पुद्गलको निरखकर ही तुरन्त विश्वास होता है कि ये ही लोग तो हैं मेरे। सारा परिचय सम्बंधी चित्रण उपयोगमें आ जाता है। लेकिन आप शरीरसे भी प्रीति नहीं करते। शरीरसे प्रीति करें तो पहिली बात तो यह है कि जब जीव निकल जाता है, शरीर रह गया मृतक, उस शरीरसे तो ये कुटुम्बीजन स्नेह करते नहीं। दूसरी बात, यहीं जिन्दा हो शरीरमें नाकसे नाककी धारा निकल बैठे, मुहसे लार टपक जाय, किसी जगह फोड़ा-फुन्सी हो जाय, उसमेंसे पीप बह जाय, ऐसी स्थिति हो तो इस शरीरमें भी स्नेह तो नहीं पहुंचता। कौन शरीरसे स्नेह करता ?

जीवसे भी स्नेह किये जानेकी अशक्यता—अब जीवकी बात देखो, क्या कोई जीवसे स्नेह करता है ? यह तो बिल्कुल अयुक्त बात है कि कोई जीवसे स्नेह करता है। जीव है एक चैतन्यस्वरूप। अथवा जिस स्वरूपदृष्टिमें जगतके सर्व जीव एक समान हैं, सर्व जीवोंमें साधारणतया ज्ञानको उत्पन्न करने वाला जो ज्ञायकस्वरूप है उस स्वरूपसे यदि प्रेम होता तो इसमें ही वह प्रेम करे, यह विभाग नहीं बन सकता। इसलिए इसके मायने यह है कि कोई जीवसे भी प्रेम नहीं करता, और इस सूक्ष्म दृष्टिकी भी बात जाने दो। जो मोटे रूपमें समझ रखा है कि यह एक जीव है, जो आया है, पैदा हुआ है, और यह कभी जायगा ऐसे मोटे रूपसे परखे हुए जीव स्वरूपसे भी कोई स्नेह नहीं करता। फिर बतलावो, न तो हम लोगोंका जीवसे प्यार हो रहा न शरीरसे प्यार हो रहा और प्यारसे अपनी बरबादी की जा रही है तो यह कितना विकट इन्द्रजाल है।

इन्द्रजालकी विडम्बना और उसकी समाप्तिका यत्न—इन्द्रजाल उसे कहते हैं कि जिसकी जड़, जिसका स्वरूप, जिसकी विधि कुछ भी समझमें न आये और जाल सा बना हुआ है। इन्द्र मायने है आत्माके,

का जाल। संसार अवस्थामें आत्माका जो जाल बन रहा है उसक
ा है इन्द्रजाल। यह सारा इन्द्रजाल, ये सारी बेतुकी अटप
ानियां, ये सब विडम्बनायें निजको निज परको पर जानने
ात होती हैं। तो इसमें कोई असत्यता नहीं कि मोह राग द्वेष ह
वकी खान हैं। लेकिन ये मोह राग द्वेष कादाचित्क है, औपाधि
ये मिटते नहीं, कुछ हैरान नहीं होते। जब ये रागद्वेष मेरे ह
णमन बन रहे हैं और मेरे ही दुःखके कारण हो रहे हैं, तो इनक
ाश मैं कैसे कर सकूं। विनाश इनका हो सकता है, इस कार
सकता है कि ये सहेतुक हैं। और, जो पदार्थ सहेतुक होते
-उन पदार्थोंका नाश हो जाया करता है और, जो पदा
दाचित्क होते हैं, हुए अब न रहे, हुए फिर न रहे, उन पदार्थोंक
र्योंका नाश हो जाया करता है। हमारे सुख-दुःखके कारण
ल्प ही है, ऐसा पहिले निर्णय तो पक्का करिये। इद निर्ण
नेपर फिर परख कर लीजिए कि ये नष्ट हो सकते हैं अथवा नहीं

दुःखधाम मोह राग द्वेषकी बेसिरपैर बातें—मोह उत्पन्न होता
सी परपदार्थमें अपना लगाव माननेसे। राग उत्पन्न होता
सी परपदार्थसे मुझे सुख होता है ऐसी कल्पना रखनेसे। द्वे
पन्न होता है मेरे सुखके कारणभूत इन विषयोंमें ये बाधक हैं ऐस
न होनेसे, पर ये तीनों ही आश्रय असत्य हैं। किसी परपदार्थ
ा लगाव नहीं है। मेरा स्वरूप मेरे प्रदेशमें ही निहित है, मे
लूत मेरे प्रदेशमें ही निहित है, मेरा सर्वस्व मुझमें ही है। मैं य
ार मील तककी बातें जान रहा हू अथवा आगम युक्तिसे स्वर्ग औ
ककी भी कुछ बातें जान रहा हूं तो यह मैं अपने ही प्रदेशों
हता हुआ, अपने ही प्रदेशोंमें शुद्ध ज्ञानरूपसे परिणमता हुआ इ
ावको जान रहा हूं, मेरे प्रदेशोंसे बाहर मेरा कुछ न कभी हुअ
कभी हो सकेगा। फिर मेरा किसी भी बाह्य पदार्थसे कुछ लगा

नहीं है। जहां इस तरह निजको निज परको पर जाना, वहां मोह समाप्त है। जैसे निजका परिणमन निजसे बाहर नहीं पहुंचता, इसी प्रकार परका परिणमन उस परके प्रदेशसे बाहर नहीं जाता। तब फिर मुझे किसी परपदार्थसे सुख कैसे हो सकता है ? जहां निजको निज परको पर जाना, वहां रागभाव फिर नहीं ठहरता। जहां रागभाव न ठहरे तो द्वेष तो रागमूलक है सो वह द्वेष भी नहीं ठहरता। तो जब निजको निज परको पर जान लिया तो सुख-दुःखकी स्थान रहती नहीं तो इस जीवको फिर सुख-दुःखका कोई कारण नहीं है।

हमारी हैरानी—आप लोगोंको जो कुछ भी क्लेश है, जो भी हैरानी है वह मात्र विकल्प की है। इस समय केवल अपने आपके हितके नातेसे बात जानना है और सुनना है। इस अनादि अनन्त कालमें थोड़ेसे वर्षों के लिए मनुष्यभवमें आये हुए इस अपने आत्माकी बात कही जा रही है। इसको जो समागम प्राप्त है आज इस भवसे पहिले इस रूपमें तो न था। यह १०-२० वर्षके बाद इस रूपमें तो न रहेगा यही भूत भविष्यके समागमकी कहानी है। इसको कष्ट क्या है ? यह विकल्प है कष्ट कि भव-भवमें समागम पाया पर आज वे हाथ नहीं हैं, आगे जो कुछ समागम होंगे वे आज हाथ नहीं हैं और वर्तमानमें जो कुछ भी समागम हाथ हैं वे भी हाथ न रहेंगे। इस जीवकी हालत उस हिरणके बच्चेकी तरह है। जैसे कोई हिरणका बच्चा जंगलमें अपनी मां से बिछुड़ गया। सैकड़ों शिकारियोंने उसको मारनेके लिए धनुष बाण लेकर पीछा किया। वह आगे भगा तो नदीका तीव्र प्रवाह था, अगल-बगल भगना चाहा तो देखा कि भयंकर अग्नि जल रही है। अब वह घबड़ाता है—आह ! मैं क्या करूं, कहां जाऊं ? कैसे अपने प्राण बचाऊं ? यों जैसे वह हिरणका बच्चा दुःखी होता है इसी तरहसे ये संसारी प्राणी चार संज्ञायें—आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिके वशीभूत होकर निरन्तर दुःखी

हा करते हैं।

...हैरानी मिटा लेनेका अवसर और सुगम स्वाधीन उपाय—आज हम आपको उत्कृष्ट मनुष्यभव मिला है, हम आपका कर्तव्य है कि यहांके संकटोंसे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय बनालें। मनुष्यभव पाकर हम आपकी कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। जैसे यहां कमेटीका कोई सेक्रेटरी अथवा प्रेसीडेन्ट बन जाय तो वह समझता है कि हमपर अब बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। इसी तरह नाना दुर्गतियोंमय संसारमें भटकते-भटकते आज मनुष्यभव हम आपको मिला है तो समझिये कि हम आपपर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। इस दुर्गम संसार वनसे पार होनेका मार्ग बना लिया तब तो ठीक है अन्यथा पशु-पक्षी, कीड़-पतिंगा आदि बन गये तो फिर दुःख ही उठाना पड़ेगा। सुख-दुःखका देने वाला यहां कोई दूसरा नहीं है, हम ही अपनेमें कषाय करते और हम ही अपनेमें आशा बनाते, विकल्प करते, और दुःखी होते। हमारा कुछ भी काम हमारे प्रदेशोंसे बाहर नहीं होता, लेकिन अन्तः ही अन्तः विकल्प बना बनाकर दुःखी होते हैं और जन्म मरणकी सतति बढ़ाते हैं। इन दुःखोंके मेटनेका कुछ उपाय भी है क्या ? हां, या उपाय है कि जरा अपने आपमें गुप्त हो जायें। अपने आपके [illegible] नातेसे अपने आपको सामने रखकर अपने आपका निर्णय करना है यही सब दुःखोंसे छूटनेका उपाय है। मुझे बहुतसा धन मिले, बहुत भोग साधन मिलें तब मेरे दुःख मिटें, यह सोचना गलत है। दुःखों छूटनेका उपाय तो मात्र एक है—'निजको निज परको पर जान।'

निजके यथार्थ परिचयका प्रभाव—अपने आपको जान लिया मैं इतना ही हूं। मेरा तो मुझसे ही वास्ता है। मैं अपने भाव बन हूं और अपने भविष्यका सब कुछ निर्णय बना लेता हूं। मेरी [illegible] भी परिणतिमें किसी दूसरेका हाथ नहीं है। मैं तो भावोंको [illegible] जाता हूं और अपना भविष्य बनाता हूं। मेरे भाव आदि [illegible]

तो मैं अपनेमें ही अपनेको निरखकर समझ कर सकूंगा और मेरा भविष्य ठीक बनेगा, यह काम यदि न कर सके तो ये धन वैभव आदिक पाकर ही क्या किया जायगा ? आखिर ये सब पुद्गल ही तो हैं। इनसे हम आपका पूरा नहीं पड़ सकता। हम अपने आपको समझें कि हम क्या हैं ? जिस क्षण यह समझ आ जायगी उसी क्षण समस्त जीवोंके प्रति ये तो सब गैर हैं और ये घरमें बसने वाले दो-चार जीव मेरे हैं, इस प्रकारके भाव न बनेंगे। ऐसे ज्ञानी गृहस्थकी अद्भुत वृत्ति होती है। निजको निज और परको पर जाननेसे फिर दुःखका लेश भी निदान नहीं रहता।

निजको निज परको पर जान लेनेसे दुःखके निदानके न रहनेका विश्लेषण—भैया ! अपने आपकी परख होनेके बाद भी कुछ समय तक दुःख आ सकते हैं। क्योंकि पहिले जो कर्म कमाये हैं वे कर्म उदयमें आते हैं। उनके उदयकालमें दुःख आता है। भले ही ज्ञान-बलके कारण उसको अत्यन्त मंद अनुभागमें बिता डाले, पर दुःख आता है। इस कारण निजको निज परको पर जान लेने मात्रसे दुःखका लेश निशान नहीं रहता। यह न कहकर यह कहा गया है कि निजको निज परको पर जाननेसे दुःखका निदान नहीं रहता। दुःखका कारण है खुदका अज्ञान, खुदके व्यर्थके विकल्प। तो सर्व परसे विविक्त अपने आपको भली प्रकारसे समझना और अपने आपमें ही स्थिर होना, यह काम हम आपको करनेको पड़ा है। यही सारभूत काम है। यहांके व्यर्थके कामोंमें ही लगकर सारा समय खोया, अपने आपके आत्मारामके कामको जो कि सारभूत काम है, उसको नहीं किया। कितना काल पहिले व्यतीत हो चुका जिसका आदि नहीं, कितना काल आगे व्यतीत होगा जिसका कि अन्त नहीं, इतना काल भटकनेको पड़ा है या रहनेको पड़ा है। इस अनन्तकालके सामने आजका पाया हुआ यह जीवन कितने समयका जीवन है। इसमें जो

द भी किया जा रहा है—परिग्रहका संचय किया जा रहा है, अन्य-
य वृत्तियां की जा रही हैं, दूसरोंका दिल सताया जा रहा है, बहुत-
हुत अन्याय अनीतिके काम किये जा रहे हैं क्या ये ही सारभूत काम
? जहां अनादि अनन्तकालकी सुध हुई वहां ही इन रागद्वेषमोह,
पय कषाय, भोग आदिकसे निवृत्ति होने लगती है।

लोक और कालकी विशालताके प्रत्ययका महत्त्व—संस्थानविचय
र्मध्यान, जिसे मुख्यतासे बताया है कि छठवें गुणस्थानसे शुरू होता
है, वैसे तो चतुर्थ गुणस्थानसे है, पर मुख्यतासे छठे गुणस्थानमें है।
विरक्त ज्ञानी साधुके उपयोगमें लोक, काल सम्बन्धित आकार परिमाण
आदिक बहुत-बहुत दृष्टिमें रहा करते हैं। बहुतसे अपराधोंसे बचनेमें
ये लोक, काल आदिके स्मरण बहुत सहायक हैं। धर्मध्यानके अर्थ
जब स्वाध्याय करते हैं और लोकका जब प्रकारण चल उठता है,
लोक कितना बड़ा है। सूत्र जी के तृतीय अध्यायमें यह सब वर्णन
पड़ा हुआ है। कितना विशाल लोक है और लोकमें क्या-क्या रचनायें
हैं यह सब स्वाध्यायमें आता है तो लोग इस वर्णनके पढ़ने सुनने
समझने आदिमें अनुत्साही हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि कोई
कथानक हो तो जरा सुगम बने, समझमें आये, रुचि हो। पर यह
नहीं सोचते कि इस लोककी रचनाका परिज्ञान होनेसे बीच-बीचमें
वैराग्य विकसित होता रहता है। ओह! इतना बड़ा लोक है। इस
लोकके समक्ष तो आजकी यह परिचित दुनिया तो समुद्रके आगे एक
बिन्दु बराबर भी नहीं है। और, फिर जहां हम रह रहे हैं, जि
परिजनोंके बीच रह रहे हैं, जितनेसे क्षेत्रमें हमारा परिचय बना हु
है, जितनेसे क्षेत्रमें हम अपनी कीर्ति फैलानेकी बात सोच रहे हैं व
क्षेत्र तो कुछ गिनती ही नहीं रखता। हम थोड़ेसे क्षेत्रमें किसको ब
दिखाना, किसको क्या अपना समझना, इस प्रकारकी बात सोच
विस्तारका ज्ञान करने समय बीच-बीचमें आती रहती है। लो

-विशालताके परिचयमें जैसे वैराग्य विकसित होता है, यों ही लंबे कालकी विशालताका वर्णन आता है कि—काल अनन्त है, उसका कभी अन्त ही नहीं आता तो उस कालके विस्तारके वर्णनमें वैराग्य आता रहता है—ओह ! इतने बड़े कालके आगे तो जीवनके ये १६-२०-५०-१०० वर्ष तो कुछ गिनती भी नहीं रखते। अगर इस थोड़ेसे जीवनकालमें अपने आपकी सुध करनेका प्रोग्राम नहीं बनाते, बाह्य पदार्थोंके संचयमें, उनको ही रात-दिन उपयोगमें बसाये रहनेमें अपना जीवन गुजारते हैं तो समझो कि हम कितनी बड़ी भूल कर रहे हैं। इस भूलके फलमें हम आपको कितने दुःख भोगने होंगे इसका अंदाज कर लीजिए।

सकलक्लेशमुक्तिका अति सुगम एवं मौलिक उपाय—समस्त दुःखोंसे छूटनेका उपाय केवल एक है और वह अति सुगम है। जैसे किसी मजबूत किलेके भीतर बैठा हुआ राजा अपनेको सुरक्षित अनुभव करता है इसी प्रकार थोड़े समयको इस देहको किला मानलो। इस देह किलेके भीतर आत्माराम है सो अन्दर ही देखो, कोई उसमें प्रवेश नहीं कर सकता, और फिर सच्चे किलेकी बात देखो—अपने आपका जो स्वरूप किला है वह कितना सुरक्षित है। उसे कोई छेद नहीं सकता, उसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता। उसमें बाहरसे कुछ भी हैरानी नहीं हो रही है। रहे निमित्त और आश्रय, सो ये अपनी ही भूलसे इस शुद्ध आत्माके साथ लगे हुए हैं। मैं ही अपने आपको सम्हालूं तो आश्रय तो तुरन्त मिट जायेंगे व निमित्त भी काल पाकर तुरन्त मिट जायेंगे। तो एक अपने आपकी सम्हालसे दुःखके सारे कारण समाप्त हो जाते हैं। समस्त दुःखोंसे छूटनेका उपाय एकमात्र यही है कि अमूर्त प्रतिभासमात्र निज अन्तस्तत्त्वमें समा जाना। अन्य कोई उपाय नहीं है जो हमारे समस्त दुःख मेट सके।

दुःखोंकी प्रकृति और मुक्तिके उपायका एक-एक ही ढंग—सब दुःखोंकी सबके दुःखोंकी एक ही बात है, सब दुःखोंका सबके

दुखोंका एक ही स्वरूप है, सबको एक ही किस्मसे क्लेश है। क्लेश
परदृष्टिसे है, चाहे उन क्लेशोंके वर्तमान रूपोंमें आश्रयभेदसे भेद
कर दिया जाय—देखो; राजाको इस नगरकी चिन्ताके कारण क्लेश
है। देखो, इस सेठको अपने कारोबारकी किसी बाधासे क्लेश है।
देखो, इन गरीब लोगोंको सुरक्षित स्थान न होनेसे बरसातके दिनोंमें
क्लेश है, यों चाहे आश्रयभेद कर लीजिए, पर मूलमें सबके क्लेशोंका
मूलकारण एक ही मिलेगा। वह कारण है परदृष्टि। क्लेशका ढंग सब
जीवोंका एक है। जैसे सब मनुष्योंका जन्म एक तरहसे होता है,
चाहे किसी भी बिरादरीका मनुष्य हो पर जन्म एक ही तरहसे होता
है, अथवा मरण भी सबका एक ही तरहसे होता है, कहीं ऐसा नहीं
है कि किसी ऊंच बिरादरीका कोई हो तो उसका मरण अन्य तरहसे
हो और किसी नीच बिरादरीका हो तो उसका मरण अन्य किसी
तरहसे हो, दस प्राणोंके वियोगसे मरण होता है। इसी प्रकार ममत
दुखोंसे छूटनेका उपाय एक ही है। अपनेको आत्माके नातेसे देखें
जाति, कुल, मजहब आदिके नातेसे न देखें। इस मुझ अमूर्त जान
देखनहार आत्माको अपना हित चाहिए, संसारके संकटोंसे छूटक
चाहिए, यह मुझे प्राप्त हो, एक यही अभिलाषा है अन्य कुछ
चाहिए, तो इस धुनमें इसका उपाय भी ढूंढ लिया जायगा।
किसी रागद्वेषका लगाव करके हम संकटोंसे छूटनेका उपाय ढूं
चाहें तो यह कठिन हो जायगा।

संकटोंसे छूटनेके लिये मानवजातिके ... —
मुक्तिके पथमें आनेके लिए मानववादको छोड़नेकी अतीव आवश
है। मानव बहुत बड़ा विकार है। इसका दूसरा नाम है अ
मैं, मैं, मैं। मैं जो नहीं है उसमें "मैं" माने, इस अहंकार
मिथ्यात्व है। समाजमें, देशमें, सभा-सोसाइटियों आदिमें
बना देना है उसका यह मानववाद है। इस मानववादने

किस-किस प्रकार इस शारीरिक सकल सूरतको यह मैं हूं ऐसा मानकर लोगोंने मेरा अपमान कर दिया, लोग मुझे कुछ समझते नहीं, ऐसी कल्पनायें मचाकर यह उस मानमें डूबा हुआ रहता है। अरे लोग जानें या न जानें, मुझे क्या? एक तो लोग मुझे जान ही न सकेंगे और अगर वे जान जायें मुझे, तो समझो कि वे स्वयं ज्ञानी हो गए। वे यदि जान गए मुझे तो फिर अमुकचन्द, अमुकलाल, अमुकप्रसाद आदि नामोंसे व्यवहार न करेंगे, वे तो स्वयं ज्ञान ज्योतिमें मग्न हो जायेंगे। उनके लिए फिर यह मैं क्या रहा? उनके उपयोगमें तो वह चैतन्यस्वरूप रहा।

प्रभु भक्तिमें ध्येय विषय—हम प्रभुकी भक्ति करते हैं, और उसमें हम जब तक यह भेद रख रहे हैं कि यह अमुक तीर्थंकर हैं, अमुकके पुत्र हैं, अमुक कुलके हैं, इतनी बड़ी अवगाहनाके हैं, उस कालमें हुए ये आदि, तो हम प्रभुके विशुद्ध स्वरूपकी आराधना नहीं कर पाते। वहां भी जब हम मात्र इस दृष्टिसे देखें कि हम एक चित्पिण्डकी भक्ति कर रहे हैं, पूजा कर रहे हैं तो एक जिस चित्पिण्डमात्र प्रभुकी पूजा कर रहे हैं, प्रभु स्वरूपमें, विशुद्ध चित्स्वरूपमें जहां कोई बन्धन नहीं रहता, जहां पूर्ण विकास है, ज्ञान-ज्योति जहां पूर्ण प्रकट है उसकी हम पूजा करें, इस तरहकी दृष्टिमें समय ज्यादा नहीं लग पाता, इसलिए भिन्न-भिन्न तीर्थंकरोंकी भिन्न-भिन्न रूपसे हम पूजाका उपक्रम करते हैं, पर पूजा करनेका कोई उद्देश्य विस्मृत न हो जाये कि हम पूजने किसे आये हैं। हम पूजने आये हैं उस विशुद्ध चैतन्य स्वरूपको, जहां रागद्वेष, मोह, सुख, दुःख, कर्म, शरीर ये सब कुछ नहीं रहे, मात्र केवल ज्योति ही है, ज्ञानस्वरूप है, उसको अनुभवने आये हैं हम यहां प्रभु पूजाके प्रसंगमें।

प्रभु भक्तिका उचित प्रयोजन—अब और सोचिये हम प्रभुको क्यों पूजने आये? समाजपर एहसान रखनेके लिये या भगवानपर एहसान

करनेके लिए या लोगोंमें बड़प्पन लूटनेके लिए या भगवानके प्रेमके वश होकर ? ये कुछ भी उत्तर सही नहीं हैं, सन्मार्गके ये उत्तर नहीं हैं। न भगवानके स्नेहसे पूजा करने आये हैं, न समाजको रिझानेके लिए, न किसीपर एहसान डालनेके लिए पूजामें आये हैं, किन्तु इस आत्माके विभावोंरूप संसारमें जो नाना क्लेश हैं उन क्लेशोंसे छुटकारा पानेका उपाय खोजते-खोजते आज इस चैतन्यस्वरूपके निकट आये हैं। इस चैतन्यस्वरूपके निकट आनेसे यह परिचय मिला कि यह चैतन्यस्वरूप परमात्मतत्त्व अति पावन है, सर्वक्लेशजालोंसे मुक्त है। ओह ! इस परमात्मतत्त्वको ही पहिले बहुत-बहुत खोजा, धर्मके नामपर हर जगह तीर्थोंमें गया, बहुत-बहुत गुरुजनोंसे समागम किया, विद्याध्ययन किया, सब कुछ उपक्रम करनेके बाद यह समझमें आया कि यह है परमात्मतत्त्व, यह है केवल आत्मतत्त्व, और यही स्वरूप मुझमें है। ऐसे उस निजको जाननेसे फिर बतलावो वहां दुःखका क्या कारण रहता है ?

परमात्मतत्त्वके सुचिर ध्यानका कर्तव्य—हम लोगोंको परमात्मतत्त्वकी बात अधिक देर तक विचारनेके लिए, सुननेके लिए मौके नहीं मिल पाते हैं। ऐसे मौके मिलायें उसीको ही तो सत्संग कहते हैं। ऐसे मौके जीवनमें बहुत-बहुत मिलने चाहियें कि हम अविकारी इस निज सहज परमात्मतत्त्वको दृष्टिमें लाया करें। किसीकी मुद्राको देखकर, किसीके चारित्रको निरखकर, किसीके उपदेशको सुनकर चर्चायें करके हम अधिकतर इस आत्मतत्त्वके निकट रहा करें। व्यापार आदिकके कार्योंमें जितना समय लगाते हैं उससे कम समय निज सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिमें न लगे, क्योंकि व्यापार कितने दिनोंका ? मृत्यु होगी सब धरा रह जायगा, साथ कुछ न जायगा। साथ जाने वाला तो है हमारी आत्मविषयक सद्बुद्धिसे उपार्जित किया हुआ ज्ञानका संस्कार। अर्थात् जो मैं हूं सो ही साथ जायगा,

अन्य कुछ नहीं। जरा इससे ही अन्दाज लगालो कि जो मेरे साथ मरने-पर जायगा वह तो है मेरा और जो मरनेपर मेरे साथ न जायगा वह मेरा अब भी नहीं है। यह बात कुछ तथ्यकी जच रही है क्या? नहीं जच रही तो अभी धर्ममार्गमें, धर्मपालनके लिए चलनेमें हमें यह बात पहिले करना है और जच रही हो तो सोचना चाहिए कि जच जानेके बाद भी हम उस कार्यमें एकदम नहीं आ पाते तो यह हमारे लिए खेदकी बात है, लाजकी बात है। हम अपना जीवन इस योग्य बनायें। यहां कोई हमारी मदद न कर देगा। लोग कुछ भी कहें, मजाक करें, विवाद करें, नाम धरें अथवा मुझसे विमुख हों, मुझसे स्नेह मत रखें, सब कोई जहां चाहें चले जायें, चाहे सब कुछ छूट जाय पर एक अपने आपके सहज परमात्मतत्त्वकी लगन यह मेरेसे न छूटे तो यही मेरे लिए सब कुछ है। एक अपने आपको सम्हाल लेनेसे हमारा सब कुछ सम्हल जाता है और एक अपने आपको बिगाड़ लेनेसे हमारा सब बिगड़ जाता है।

अन्त. शान्तिका अन्त उपाय कर लेनेकी स्वयंपर ही जिम्मेदारी— भैया! कोई दूसरा हम आपको दुःख-सुख देने वाला नहीं है, केवल ये हमारे विकल्प ही हमको कष्ट देते हैं। अधिक देर इन इन्द्रियोंको संयत करके मनको संमुक्त करके किसीसे हमको कुछ प्रयोजन नहीं, किसीसे कुछ इच्छा न करें, कोई कर क्या देगा मेरा? कोई मेरा प्रभु नहीं। ये जगतके जीव मेरे कोई साथी नहीं हैं। मेरी सब जिम्मेदारी मुझपर ही है। हिम्मत बनायें, संकोच न करें। बड़े मोह और स्नेहके बायदे भी किये हों, बाहर ही बाहर अपने उपयोगको दौड़ाया हो तो भी अब अपने आपको सम्हालकर इस निर्लेप ज्ञानमात्र सहज परमात्मतत्त्वका अनुभव तो कर लीजिये। सब कुछ किया अब तक बाहरमें, फिर भी बाहरमें कुछ नहीं किया, बाहरमें नाम ले लेकर सब कुछ विकल्प कर डाला, किन्तु एक निजको जाननेका काम न कर

पड़े। जिसका फल है कि ज्ञानमय पदार्थ होकर भी शरीरमें फसा और बंधा है। लोग तो अपने चेहरेको दर्पणमें देख देखकर खुश होते हैं और उसकी बड़ी सम्हाल करते हैं, पर इस सारे शरीरमें जितने किस्मके मल भरे हैं उनमें अधिक किस्मके मल तो इस चेहरेमें भरे हैं। हाथ-पैरकी जगह तो खून मांस मज्जा आदि ही हैं पर इस चेहरेमें इनके अतिरिक्त नासिकासे नाक निकले, कर्णसे कनेऊ निकले, उसमें लार, कफ, खकार आदिक निकले। इतने महामलिन चेहरेको दर्पणमें देखकर, उसे सजाकर लोग बड़े खुश होते हैं। अरे इस शरीरकी सजावटमें प्रीति न रखो, एक अपने आत्मारामसे प्रीति रखो। अपनेको निर्लेप, ज्ञानस्वरूप, अत्यन्त पवित्र निहारो। मैं तो वह हूं, ये सब विडम्बनायें मैं नहीं हूं, जितना ज्ञान और वैराग्य सदैव उतना ही दुःख दूर होगे।

पर्यायबुद्धिका अन्याय—अज्ञान, पराकर्षण, परमें प्रीति, इनसे तो जीवको क्लेश ही प्राप्त होते रहेंगे। आप भी ऐसा न करें, हम भी ऐसा न करें। लोग मुझे अधिक चाहें, बहुत स्नेह रखें, ऐसा विचार न रखें।—ये तो सब प्रासंगिक बातें हैं, पर हां स्नेहके बजाय द्वेषका गड़ा चोलवाला है इसलिए स्नेहकी प्रशंसा की जाती है। द्वेषकी ज्वाला से तो बचे। वस्तुतः राग और द्वेष दोनों ही इस जीवको क्लेश उत्पन्न करने वाले हैं। मेरे क्लेशोंको उत्पन्न करने वाला मेरा ही अज्ञान है, मेरा विकल्प है, मेरा राग है। कैसा पनिष्ठ राग मान रखा, ये ही तो हैं मेरे सब कुछ, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, ये सब कैसे मिटेंगे। क्या ये और के हो जायेंगे ? स्त्री तो मेरी ही है दूसरेकी कैसे ? ये पुत्र तो मेरे ही हैं, दूसरेके कैसे ? अरे स्वरूपदृष्टिसे देख—तेरा कुछ भी नहीं है। तेरा तो मात्र तेरा स्वरूप है। इसके आगे जो तेरे विकल्प बनते हैं वे सब तेरी मान कषायमें निहित होते जाते हैं। यशकी चाह, लोकमें बड़प्पनकी चाह। और, तो आने दो—धर्म

करते-करते भी तो, आत्महितके प्रयत्नमें लगे-लगे भी तो अभिमान सवार पड़ता है। मान न मान मैं तेरा महिमान। अभिमानियोंकी यह दशा है—मान न मान मैं तेरा महिमान। जनसाधारणको दृष्टिमें नहीं है कि यह मैं बड़ा हूं। ये लोग मुझे इतने ऊंचे आदरसे नहीं निरखते हैं, लोग निरखें चाहें न निरखें, हम तो इनमें बड़े ही हैं। अपने आपमें ऐसा बड़प्पन अनुभव करना और अपने आपके परमात्मस्वरूपको भूल जाना, यह अपने आपपर कितना बड़ा भारी अन्याय है।

देव शास्त्र गुरुकी आन्तरिक भक्तिसे अन्तः उपलब्ध आन्तरिक ज्ञानसे दुःखोंका अभाव—परमात्मस्वरूपका स्मरण करते रहना चाहिये पूजामें, ध्यानमें, पर्वोंमें, उपदेशोंमें। सच पूछो तो ग्रन्थोंके रूपमें ये सब हमारे गुरुराज हैं। इनकी वाणी है ग्रन्थोंमें। हम उनका अध्ययन करें। हम आपने बुद्धि पाया, मन पाया, ज्ञान पाया, सब प्रकारसे समर्थ हैं फिर भी इतना प्रमादी बन रहे हैं कि हमारे हितू जो आचार्यजन हैं, गुरुजन हैं उनका स्वरूप भी नहीं जानना चाहते। मनमें यह इच्छा ही नहीं रखते कि हम उन गुरुवोंका स्वरूप तो देखें कि वे गुरु क्या थे? इन गुरुवोंका स्वरूप अगर जानना है—क्या थे ये कुन्दकुन्द, क्या थे ये समन्तभद्र? तो उन गुरुजनोंकी वाणीका अध्ययन करें तो उनके स्वरूपका पता पड़ेगा, उनके प्रति भक्ति जगेगी और उन गुरुओंके दर्शन होंगे, और अपने जीवनको सफल कर लिया जायगा। तो अब इस मनुष्यभवको हमें यों न खोना चाहिए। ज्ञान और वैराग्यमें बढ़ें, राग और मोहसे हटें और अधिकसे अधिक उन गुरुओंके जो अनुभव हैं, उनका अध्ययन कर वहां चित्त लगायें तो इस विधिसे हम आपका भला होगा, आनन्द जगेगा, निजको निज जान जावेंगे और फिर दुःखका कोई कारण नहीं रहे तब यह मैं अपने आपको किस रूपमें अनुभव करूंगा? यह मैं सर्व द्रव्योंसे निराला स्वतंत्र हूं, अर्थात् चैतन्यस्वभावसे कभी चलित न होने वाला सब

कारोंसे रहित स्वरूप, जिसमें किसी भी प्रकारकी गंदगी नहीं, ऐसा
जानन-देखनहार यह मैं आत्माराम हूं। ऐसी प्रतीतिमें ही हम अपना
भला कर सकते हैं, और-और तरहके विकल्पोंमें तो हम अपने
जीवनको व्यर्थ ही खो रहे हैं।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निजधाम, आकुलताका फि क्या काम ॥४॥

निज धाममें पहुंचनेकी भावना—जिस आत्मतत्त्वके जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदिक नाम हैं, रागको छोड़कर मैं उस निजधाममें पहुंचूं तो फिर आकुलताका क्या काम? यहां भावनामें मुख्य बल दिया है निज चैतन्यस्वरूप धाममें पहुंचनेका। जहां पहुंचनेपर फिर आकुलता नहीं रहती। उपयोगकी गति दो ओर होती है—निजकी ओर और परकी ओर। निज और परके अतिरिक्त कुछ और तीसरी चीज रही ही नहीं। जब उपयोग परकी ओर अभिमुख रहता है तो आकुलित रहता है और जहां अपनी ओर अभिमुख हो गया वहां आकुलतायें नहीं रहती। लोकमें धर्मका अनुराग रखने वाले अनेक लोग हैं, भगवानका सहारा लेते हैं, तो भगवानके सहारेमें भी मूलमें सहारा वास्तविक क्या किया जा रहा है? जिन, शिव, ईश्वर ब्रह्मा, राम, विष्णु बुद्ध, हरि आदिक नामोंसे प्रभुका आश्रय लोग लेते तो असलमें आश्रय है क्या? इसमें अपने आपका आश्रय कर रहे हैं। जैसे कि जिस आत्मतत्त्वका नाम जिन है उस आत्मतत्त्वमें पहुंचनेकी भावना की है।

आत्माकी जिन स्वरूपता—जिन क्या है? जो रागद्वेषको जीते उसको ही तो जिन कहते हैं। जिन्होंने रागद्वेषको जीत लिया उन प्रभुने भी किसके आलम्बनसे रागद्वेषको जीता? उनका आलम्बन रहा निजका ही चैतन्यस्वरूप शुद्ध अंतस्तत्त्व। जब हम आप पूजा करें, भक्ति करें तो साथ ही यह भी निरखने जायें कि ये प्रभु क्या

कार्य करके बड़े बने हुए हैं ? जो कार्य करके वे बड़े बने वह ही कार्य हम आपको उपादेय है। प्रभु जिन हुए, उन्होंने रागद्वेष मोहादिकको जीतनेका उपाय किया। सर्व परपदार्थोंसे भिन्न अपना जो चैतन्य स्वरूप है, निज आत्मतत्त्व है उसकी ओर दृष्टि की। रागद्वेष होते हैं इन इन्द्रियोंके द्वारा कुछ ज्ञान करते हुएमें। और, इन्द्रियके विषयोंके उपयोगसे रागद्वेष होते हैं। वे विषय इन द्रव्येन्द्रियोंके साधनसे उपयुक्त होते हैं। द्रव्येन्द्रियां हैं अचेतन। उनसे भिन्न है यह चेतन आत्मा। उसका ध्यान करनेसे द्रव्येन्द्रियका जो अन्तः लगाव है वह समाप्त होता है। और, भीतर जो कल्पनायें बनती हैं वे कल्पनायें हैं भावेन्द्रिय, क्षायोपशमिक, मलिन। उनसे भिन्न है आत्माका शुद्ध चैतन्यस्वरूप। उस चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे इन भावेन्द्रियोंपर विजय होती है। और, ये सामने आये हुए विषयभूत पदार्थ ये कहलाते हैं संग। तो इनसे भिन्न निःसंग मेरा जो आत्मस्वरूप है उसकी दृष्टि होनेसे इस संगका भी आश्रय छूटता है। ऐसी स्थितिमें आत्मा रागादिक भावोंपर विजय करता है। इस उपायसे ये आत्मा जिनेन्द्र हुए। तो जिस आत्माका जिन नाम है उस आत्माका स्वरूप ही इस उपासककी दृष्टिमें आ रहा है भगवानकी भक्तिके समय भी।

मूल शिवस्वरूपकी उपासना—कोई लोग प्रभुको शिव शब्दसे भी कहते हैं। शिवका अर्थ है कल्याण जो कल्याण स्वरूप है, सुखमय है है उसे कहते हैं शिव। लोकप्रसिद्धि है कि शिव कोई महादेव हुए हैं। ठीक है, हुये हैं। उन्होंने भी इस आत्मतत्त्वका आश्रय लेकर अपने आपमें विकास किया है, निर्ग्रन्थ साधु थे, सभी लोग उन्हें दिगम्बर कहते हैं। विकास होते-होते ११ अंग ९ पूर्व तकका उनका अध्ययन अधिकार पूर्वक हुआ था। विद्यानुवाद नामक दशवें पूर्वमें वे शिथिल हुए और उससे आगे वे न चल सके, चमत्कार उनका था ही, लोकमें बड़ी प्रसिद्धि हुई और वे बड़ी प्रसिद्धिके साथ लोकमें उपास्य हुए।

ब्रह्मा, शिव हुआ कौन ? यह आत्मा ही। कैसे हुआ ? अपने आत्माके शिवस्वरूपकी उपासनाके बलसे ही हुआ है। ऐसे जिस आत्माको धन शिव है, ऐसे आत्मतत्त्वमें राग त्यागकर यदि पहुंचूं तो फिर आराधनाका कोई काम नहीं रहता।

ईश्वर ब्रह्मा रामके मुक्तस्वरूपकी उपासना—प्रभुको कहते हैं ईश्वर, ईश्वर कहते हैं उसे जो ऐश्वर्यवान हो, स्वयं हो, स्वयंमें हो, स्वयंके अधीन हो। जिसे अपने ऐश्वर्यके भोगने में किसी परकी आधीनता न हो उसे ईश्वर कहते हैं। लोकमें बड़ा वही माना जाता जो अपने सुख साधनोंके भोगनेमें पराधीन न हो। वस्तुतः देखो तो पूर्ण स्वाधीन सुखके भोगने वाले वीतराग सर्वज्ञदेव हैं। उनका परिपूर्ण विकास हुआ है। वहां किया क्या जा रहा है ? केवल आत्मीय आनन्दका स्वाधीन अनुभवन। उस आनन्दके भोगनेमें उन्हें किसी परकी अपेक्षा नहीं रही। ये सब परिणमन अपने आपमें ही किए जाते हैं अतः आत्मा ही स्वयं ईश्वर है, अर्थात् यह आत्मा अपने विभावोंसे स्वयं ही स्वयंकी परिणति करता है और स्वयं ही स्वयंकी परिणतिको भोगता है। ब्रह्मा भी इस आत्माका ही नाम है। जो सृष्टि करे, जो बढ़े उसका नाम ब्रह्मा है। सृष्टि करना, उत्पत्ति करना इसको वृद्धिके रूपसे कहा गया है। उत्पत्ति, वृद्धि, बढ़ना, विकास, विलास ये सब अनर्थान्तर हैं। जो बढ़े बढ़ावे उसको कहते हैं ब्रह्मा। तो यह आत्मा स्वयं अपने ही गुणोंसे बढ़ता है और अपनी ही सृष्टि करता है तो इस ही का नाम निरुक्तिसे ब्रह्मा है। राम, जहां योगीजन रमण करें उसे राम कहते हैं। योगीजन कहां रमण करते हैं ? इस ही आत्मस्वरूपमें। जो केवल प्रतिभासमात्र अमूर्त है उस आत्माका ही नाम राम है।

विष्णु बुद्ध हरिके मुक्तस्वरूपकी उपासना—विष्णु, जो व्यापक हो, जो व्यापे उसे कहते हैं विष्णु। ज्ञानके समान, व्यापने वाली कौन

कोई चीज नहीं है। जितना बड़ा प्रसार ज्ञानका है उतना बड़ा प्रसार और किसी चीजका नहीं है। ज्ञानका प्रसार लोकमें भी है और अलोकमें भी है। इस आत्माको ज्ञानरूपसे ही निरखा गया है अतः इस आत्माका ही नाम विष्णु है। विष्णुको रक्षक भी कहते हैं। जो रक्षा करे सो विष्णु। तो यों भी ध्यानमें लाइये कि हमारी रक्षा करने वाला हमारी आत्माके सिवाय अन्य कौन हो सकता है? इसलिए यह आत्मतत्त्व ही विष्णु है। बुद्ध, यह आत्मा ही बुद्ध है, क्योंकि आत्माका स्वरूप ज्ञानमात्र है। और ज्ञानकी दृष्टिसे ही जब हम इसको निरखने चलते हैं तो हमें आत्माका सत्य परिचय होता है। अतएव यह आत्मा ही बुद्ध है। हरि, यही आत्मा हरि है। जो पापोंको हरे सो हरि। पापोंका हरने वाला हमारा विशुद्ध परिणाम ही तो है। हम जब विशुद्धिमें बढ़ते हैं तो ये सब कर्म कलंक स्वयं ही विशीर्ण हो जाते हैं।

निजधाममें पहुचनेका यत्न—जिसके जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदि सब नाम हैं उस निजधाममें यह मैं पहुंचूं। किस तरह पहुंचूं? उसका उपाय है राग त्यागि। राग त्यागनेसे ही अन्तस्तत्त्वमें सहज पहुंच हो जाती है। यह आत्मा स्वयं ही तो ज्ञान स्वरूप है और जानने वाला भी ज्ञान है। तो ज्ञानमय स्वयंको ज्ञान ही जानने चले तो उसे कठिनाई क्या है? पर इस ज्ञानके चलनेमें बाधक है राग। किसी परवस्तुके प्रति जब तक यह प्रतीति रहे कि मेरा बड़प्पन, मेरी इज्जत, मेरा सुख, मेरा जीवन अमुक पर आश्रित है, धन-वैभव आदिपर आश्रित है। इस तरहकी जब तक प्रतीति रहती है तब तक यह आत्मा अपने आपके स्वरूपमें नहीं पहुंचता। इसलिए उपाय ही यह है कि राग त्यागें। रागको छोड़कर अपने आपमें पहुंच बन सकती है। अब इस तरहके प्रयत्नमें जिसकी यह स्थिति बनी कि जिसका उपयोग, अर्थात् जानन ज्ञानवृत्ति जाननेके

रूपमें रम गयी, ज्ञायकस्वभाव अंतरतत्त्वमें ज्ञान एकरस हो गया
सी स्थितिमें फिर बतलावो आकुलताका उदय किस ओरसे हो
सकता है ? जिस अंतरतत्त्वमें पहुंचनेपर रागद्वेषका उदय नहीं है
ह मैं आत्माराम कैसा हूं ? स्वतंत्र अपने आपके आधीन । निश्चल—
जो अपना चैतन्यस्वरूप है उससे चलित न होने वाला, निष्काम,
समस्त विकारोंसे रहित ऐसा जानन-देखनहार स्वरूप वाला यह मैं
आत्मतत्त्व हूं ।

आत्माके निर्णयपर भविष्यकी निर्भरता—मैं क्या हूं, इसके निर्णयपर
मेरा सारा भविष्य निर्भर है । यों समझिये कि जैसे नावके चलाने
वाले मल्लाह भी कई होते हैं; पर किस ओर नावको ले जाना है यह
कर्णधारके हाथकी बात है । नावमें पीछे एक सूपकी तरह कर्ण लगा
होता है, वह बड़े मोटे डंडेके नीचे लगा रहता है । कर्णधार उसे
जिस रुखसे मोड़दे उस रुखसे नाव चलने लगती है । तो जैसे नावकी
प्रगति, किस तरह चले, कहां जाय, यह सब कर्णधारपर निर्भर है
इसी प्रकार मैं क्या हूं इस निर्णयपर मेरा भविष्य निर्भर है । मेरा
संसारमें जन्म-मरण करते रहना व मुक्त होना इन दोनों ही बातोंके
भविष्यका आधार है अपने आपके स्वरूपका निर्णय । जहां यह प्रतीति
है कि मैं सबसे निराला चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, मेरा इस जगतमें कहीं
कुछ नहीं है, मैं अकिञ्चन हूं, वहां मुक्तिका मार्ग मिलता है । और
जहां परदृष्टि है, स्वदृष्टिसे विमुखता है वहां संसारभ्रमण करते
रहनेका मार्ग मिलता है । तो ये दोनों ही बातें हमारे ही भावोंके
आधीन हैं ।

आत्मभावसे आत्मस्वरूपकी उपलब्धता—जैसे किसी पुरुषके
आगे दो चीजें धर दी जावें, एक ओर हीरा रत्न और दूसरी ओर
हल्दी, और उससे कहा जाय कि भाई इनमेंसे तुम्हें जो चीज इष्ट हो
वह ले लो । और, यदि वह हल्दीका ही लेना पसंद करे तो उसे

लोकमें बेवकूफ कहा जायगा। इसी तरहसे हमारे आगे दो बातें हैं एक तो मुक्ति प्राप्त करना और दूसरी—जन्मसंतति बढ़ाना। भावोंसे ही हम मुक्ति पाते हैं और भावोंसे ही हम अपनी जन्मसंतति बढ़ाते हैं। जन्मसंतति करते रहनेके भाव बनानेसे तो इस संसारमें रुलते ही रहना पड़ेगा और मुक्ति प्राप्त करनेके भाव बनानेसे स्वाधीन अनुपम आनन्दकी प्राप्ति होगी। तो देखिये—जब भावोंसे ही हमें जन्मसंतति मिल सकती है और भावोंसे ही हमको मुक्ति भी मिल सकती है तो हमें कहां लगना चाहिये, किस ओर प्रतीति करना चाहिये, कैसा प्रयत्न करना चाहिये, यह जरूर विवेकसे सोच लीजिए कोई हमको बन्धनमें डाले हुए नहीं है। हम सबसे निराले और अपने स्वरूपमें, अपने प्रदेशोंमें रह रहे हैं, जो कुछ यहां दिखता है वह कुछ भी मेरा नहीं है, मेरेसे बाहर यहां मेरा कुछ भी नहीं है। तो मैं अपनेमें ही रह रहा हूं। कोई भी परवस्तु मुझे पकड़े हुए नहीं है। भले ही वे परवस्तुयें निमित्त हैं, आश्रयभूत हैं, पर वे सब भी निमित्त और आश्रयभूत मेरे ही अपराधसे बन रहे हैं। मैं अपने असली स्वरूपको जानकर सर्व परकी उपेक्षा करके अपने आपमें ही बसूं तो ये सब झंझट, ये सब संततियां हमारी दूर हो सकती हैं।

संकटमुक्तिके लिये ही प्रभुभक्तिकी उपेयता—हम संकटोंसे छुटकारा पानेके लिए ही सब प्रयास कर रहे हैं। भगवद्‌भक्ति भी हमारे जीवनके उत्थानमें एक बहुत महत्त्व रखती है जब हम प्रभुके स्वच्छ, वीतराग, निर्दोष, परिपूर्ण गुणयुक्त स्वरूपको निरखते हैं। और, जब साकार दृष्टिसे सोचते हैं कि प्रभु आकाशमें समवशरणमें विराजते हैं, चारों ओरसे देव देवियां बहुत गान तान संगीतके साथ, बड़े उमंगके साथ सब लोग आ रहे हैं प्रभुचरणोंमें भक्ति करनेके लिए, यह सब जो आकर्षण है वह किस बातका है? वह सब आकर्षण है वीतरागताका। वीतराग प्रभुके निकट पहुंचनेके लिए किसीके पास खबर नहीं भेजी

ा जाती। अरे यह खबर तो बिजलीकी तरह स्वयं फैलती है तथा त्पालक ही अनेक शंखनाद वगैरह हो जाया करते हैं, देवोंके आसन वयं कम्पित हो जाते हैं जिससे भी सब प्रभुपदका ध्यान कर लेते हैं और सबके सब वहां जाकर प्रभुभक्तिमें रत रहा करते हैं। यह सब ताप है वीतरागताका। हम यदि शान्त रह सकते हैं तो वीतराग होकर ो शान्त रह सकते हैं। रागरहित होकर हम शान्तिके सपने देखें तो ह बिल्कुल विरुद्ध बात होगी। तो रागभावको छोड़कर ऐसे ज्ञानमय पने आत्मस्वरूपमें पहुंचें, जिस पहुंचमें छल, कपट, अथवा अन्य सी प्रकारके अन्तर-बाह्य यत्नकी जरूरत नहीं। मन, वचन, कायके योगकी जहां वृत्ति नहीं, केवल ज्ञान द्वारा ज्ञानमें ज्ञानको अवस्थित करनेकी वृत्ति है, ऐसे अपने आपके इस पवित्र कार्यमें, अपने आपके स्वरूपमें समाये जानेमें उद्यम करें तो यही एकमात्र सारभूत काम है। निरपेक्ष होकर, मंदकषाय होकर, आत्महितकी अभिलाषासे आप अपनी प्रत्येक वृत्तियोंमें एक यह प्रश्न उठाते जायें कि क्या इस समस्त अनन्तकालमें यही काम सारभूत है? ऐसा सोचनेपर जो सारभूत काम नहीं है उनसे हट जायेंगे और जो सारभूत काम है उसपर दृष्टि पहुंचते ही आप जम जायेंगे। यही सारभूत काम है। क्या मिला तब सारभूत? "राग त्यागि पहुंचूं निजधाम।" इस एक कामके सिवाय अन्य कोई यत्न, अन्य कोई कार्य सारभूत नहीं है।

विकल्प तोड़कर निजधाममें ही पहुंचनेकी सारभूतता—आप अनुभव करके देख लीजिए। बाह्यमें कर करके कोई काम पूरा नहीं होता। जब ऐसी दृष्टि बने कि अब तो मेरे करनेको कुछ काम रहा नहीं, तब काम पूर्ण हो सकेगा। काम कर करके काम कभी पूरा हो नहीं सकता। और, काम हमें करनेको लोकमें कुछ नहीं रहा, यह बुद्धि तभी बन सकती है जब स्वरूप चतुष्टयका भेद व ज्ञानज्योति हमारे उपयोगमें स्पष्ट रहे। क्या कुछ हो सकता है मेरे द्वारा किसी परपदार्थमें? मैं

कल्याण करनेके लिए दृढ़ संकल्प किए हैं तो बड़े साहसके साथ किसी भी क्षण सबको भूलकर एक केवल बड़ी धीरतासे अपने आपके अन्दर ज्ञानज्योतिसे ज्ञानज्योतिमें समाये हुए थोड़ा एक निर्विकल्प पद्धतिसे कुछ विश्राम करें तो जो सारभूत तत्त्व है, आनन्दका धाम है अथवा कहो—प्रभु है उसके दर्शन होंगे। यह काम यदि न कर सके तो जीवनमें सब कुछ करनेके बाद भी कहा जायगा कि कुछ नहीं किया। इसका सम्बंध है अपने साथ, अपने भविष्यके साथ, संसार और मुक्ति जैसे अन्तर वाले निर्णयके साथ। ये मिले हुए समागम कुछ भी काम न आवेंगे, काम तो आयगा केवल अपने आपका ज्ञान और वैराग्य।

परसे परके सम्पन्न होनेकी भ्रान्ति—अब वस्तुत्व दृष्टिसे देखिये कि जगतका परिणमन स्वयमेव हो रहा है अर्थात् उसका उसके उपादानसे हो रहा है। लोगोंको यह भ्रम है कि हम ही परिजनोंको पालने पोषने वाले हैं। हमारे ही प्रयत्नसे, हमारी चतुराईसे परिजनोंका पालन पोषण हो रहा है। ऐसा सोचना तो उनका मिथ्या है। और यह बात सम्भव है कि ऐसा सोचने वाला व्यक्ति जब तक घरमें है तब तक तो कहो बड़ी गरीबीसे गुजारा चले, और जब वह घरसे बाहर हो जाय तो कहो ऐसे-ऐसे योग जुड़ जायें कि विशेष आय होने लगे और वे परिजन पहिलेसे बहुत अधिक सम्पन्न हो जायें। अरे सबका भाग्य सबके साथ है। बल्कि कमाने वाले और बहुत बहुत फिकर रखने वाले व्यक्तिसे भाग्य तो उन घरवालोंका बड़ा है जिनके पीछे रात-दिन इतनी चिंतायें की जा रही हैं।

परका परसे पालन न होनेका एक दृष्टान्त—एक जोशी था, जो प्रतिदिन ज्योतिषकी साधारणसी कुछ बातें बताकर आटा मांगकर लाता था और उससे उसके परिजनोंका गुजारा चलता था। एक दिन वह जोशी किसी नगरमें आटा मांगते हुए किसी संन्यासीको मिला। संन्यासीने पूछा—भाई क्या कर रहे हो? तो जोशी बोला महाराज!

इस आटा मांग रहे हैं। आटा मांगकर जब घर ले जायेंगे तो हमारे परिजन खानेको पायेंगे। हमी तो परिजनोंका पालन-पोषण करते हैं। तो संन्यासीने कहा—जोशीजी तुम झूठ कहते हो, तुम नहीं अपने परिजनोंको पालते-पोसते। तुम तो उनकी चिन्ता छोड़कर हमारे साथ चलो, वहां आनन्दसे रहोगे। वह जोशी भक्त था, सो संन्यासीके साथ चल पड़ा। जब जोशी प्रतिदिनके समय तक घर न पहुंचा तो घर वालोंने उसकी पूछताछ की। किसी मसखरेने कह दिया कि अरे उसे तो आज एक शेर उठा ले गया। घर वाले रोने लगे, बड़े दुःखी हुए। पड़ोसियोंमें भी यह खबर फैल गई। सभी लोगोंने सोचा कि वही तो एक परिवारका चलाने वाला था, अब इन घरके बेचारे लोगोंका गुजारा कैसे चलेगा। सभीने विचार किया कि अपन लोग मिल-जुलकर इन्हें कुछ चीजें दे दें ताकि अपने पड़ोसमें रहकर ये बेचारे दुःखी तो न रहें। सो अनाजकी दूकान वालोंने एक-एक दो-दो बोरे अनाज दे दिया, कपड़े वालोंने कुछ थान कपड़े दे दिये, घी वालोंने एक-एक टीन घी दे दिया, इसी प्रकारसे अन्य भी चीजें लोगोंने दे दीं। वे घरके लोग तो अब इस तरहके दिन देखने लगे जैसे कि जीवनमें कभी भी न देखा था। उधर जोशीको संन्यासीके साथ रहते हुए जब करीब १५ दिन व्यतीत हो गए तो जोशी बोला—महाराज! हमें आप घर जानेकी आज्ञा दीजिए। जाकर देखें तो सही कि कौन मरा और कौन जिया। संन्यासीने कहा—हां जावो तो सही, पर यों ही सीधा घरमें न घुस जाना। छिपकर घर वालोंको देख आना। सो जोशी वहां जाकर घरके पीछेसे किसी तरह चढ़कर ऊपरकी छतपर पहुंच गया। वहांसे झांककर वह क्या देखता है कि घरके सभी लोग नये-नये वस्त्र पहिने हुए हैं। पूड़ियां कचौड़ियां घरमें छक रहे हैं देख सभी खा पी रहे हैं, हंस खेल रहे हैं। जोशीको वह दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और खुशीके मारे, छतपरसे वह अपने बच्चों

मिलनेके लिए घरमें कूद पड़ा। घर वालोंने तो यह समझ रखा था कि वह तो मर गया सो उसे देखकर सोचा कि अरे यह तो भूत आ गया। सो सभी ने ढेला, पत्थर, लाठी आदिसे मार-मारकर उसे भगा दिया। वह किसी तरह प्राण बचाकर संन्यासीके पास पहुंचा। बोला—महाराज वहां तो सभी बड़े खुश हैं, पर घरके सभी लोगोंने हमें कंकड़, पत्थर, लाठी आदिसे मार-मारकर भगाया। तो संन्यासीने कहा—अरे जब वे स्वयं मजेमें हैं तो तुम्हारी कौन पूछ करे। तुम तो व्यर्थका अहंकार करते थे कि हमी इन परिजनोंका पालन-पोषण करते हैं। तो इस कथानकसे यह शिक्षा लेना है कि ऐसा अहंकार करना ठीक नहीं कि मैं ही इन लोगोंका पालन-पोषण करता हूं, मैं ही इनको सुखी करता हूं। अरे सबके साथ सबका अपना-अपना भाग्य जुड़ा हुआ है और वे सभी अपने-अपने भाग्यके बलपर अपना-अपना काम कर रहे हैं।

पदार्थोंका अपना स्वरूप—यहां सभी पदार्थोंके सम्बंधमें स्वरूप देखो—प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही अदल-बदल कर रहे हैं क्योंकि पदार्थका स्वरूप ही यह है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। कोई अगर जानना चाहे कि जिनेन्द्रदेवके उपदेशका सार क्या है तो वह सब सार आपको दो सूत्रोंमें मिल जायगा। तत्त्वार्थसूत्रका प्रथम सूत्र है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' और पंचम अध्यायमें बीचका सूत्र है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। उत्पाद मायने बनना, व्यय मायने बिगड़ना और ध्रौव्य मायने बना रहना। प्रत्येक पदार्थका स्वभाव है कि बने, बिगड़े और बना रहे। वस्तुका स्वरूप है बनना, बिगड़ना और बना रहना। जो भी पदार्थ है उसकी प्रतिक्षण कुछ न कुछ अवस्थायें होती हैं। पूर्व अवस्थायें विलीन होती रहती हैं और नवीन अवस्थायें बनती रहती हैं और पदार्थ वहीका वही पूरा बना रहता है। जैसे एक मनुष्य है

उसका बचपन था, फिर वह जवान हुआ, फिर बूढ़ा हुआ,
वे अवस्थायें बदलती रहती हैं, पर मनुष्यपना तो सब अवस्थाओंमें
मौजूद रहा। ऐसी ही बात सभी पदार्थोंकी है। इससे शिक्षा
यही मिलती है कि जब सब पदार्थोंका यही स्वरूप है कि वे अपनेमें
उत्पन्न होते, विलीन होते हैं और बने रहते हैं। तब कहां गुंजाइश
है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें कोई परिणति बना दे। इस
दृष्टिसे सारे विश्वको निरखिये कि प्रत्येक पदार्थका परिणमन स्वयमें
होता है, मैं किसी भी पदार्थमें कुछ नहीं करता। मैं अपने भाव
बनाता रहता हूं, अच्छा, बुरा, सुखका, दुःखका, ज्ञानका, आनन्दका,
आदिक भाव भर बनाता रहता हूं, इसके अतिरिक्त हम कर क्या
रहे हैं? बड़ी गम्भीरतासे, बड़ी जिम्मेदारीके साथ "अपने आपका
इस अशरण संसारमें अपने आप ही स्वामी है", ऐसा मानकर सोचते
हैं तो जगतमें किसी भी पदार्थका हम क्या परिणाम कर रहे हैं?
यह सुविदित हो जाता है। जब यह ज्ञान जगता है तो वहां वैराग्य
प्रबल होता है। प्रत्येक पदार्थका स्वरूप उसका अपने आपमें है।

राष्ट्रीय ध्वजमें पदार्थके उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व स्वरूपका संकेत—
आजका सरकारी तिरंगा झंडा भी आपके उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्की
महिमा बता रहा है। समझने वाले समझ जायेंगे। उसमें रंग है तीन—
हरा, सफेद और लाल। साहित्यकार लोग यह बताते हैं उत्पादके
वर्णनमें कि उत्पादका प्रतीक रंग हरा है। लोग जब पूछते हैं कि
अजी क्या हाल है? तो उत्तरमें दूसरा व्यक्ति कहने लगता है कि
भाई हम खूब हरे-भरे हैं। हमारे बाल-बच्चे, नाती-पोते सब अच्छी
तरह हैं। तो उत्पादका वर्णन हरेसे होता है। व्ययका वर्णन लालसे
होता है। विनाशका वर्णन रुधिर रंगसे चलता है और ध्रौव्यका
वर्णन शुक्लसे चलता है। और, रंगोंका क्रम भी झंडेमें कितना सुन्दर
है कि सफेद रंग बीचमें है जो उत्पाद और व्यय दोनोंका आधारभूत

हटे, अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि बने, ऐसी अपने आपकी दुनिया बने तो उस वैभवका मुकाबला जगतमें कहीं अन्य पदार्थसे नहीं किया जा सकता है। सहाय होगा तो, यही तो सहाय होगा, ऐसा जानकर इस ज्ञान और वैराग्यके लिए अपने जीवनको लगायें तो इसमें अपना भला है।

अपने स्वरूपके यथार्थ निर्णयमें आत्मकल्याणकी निहितता—मैं क्या हूं, कबसे हूं, कब तक रहूंगा, क्या करता रहता हूं? इन चार प्रश्नोंका उत्तर हो जाय सही तो उसका कल्याण है। भीतरकी लगन सहित उत्तर हो जाय कि मैं क्या हूं? मैं एक चैतन्य पदार्थ हूं, अमूर्त प्रतिभासमात्र हूं, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित केवल ज्ञाता द्रष्टा एक पदार्थ हूं। मेरा यहां अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। इस अमूर्त मुझका दूसरा कौन क्या होगा? कबसे हूं? अनादिसे हूं। रुलता चला आया हूं। रुलते-रुलते आज जो उत्कृष्ट मनुष्यभव पाया उसकी महिमा बतायी भी नहीं जा सकती। किसी चीजका मूल्य तब विदित होता है जब उसके सामने नकली खराब चीज और पड़ी हो। इस मनुष्यभवका मूल्य तब समझा जा सकता है जब कि संसारकी अनेक दुर्गतियोंका भी विचार करें। निगोद जैसी दशा मिली, जिसमें एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म-मरण किया। पेड़, फल, फूल आदि हुए तो तोड़ा सुखाया, छेदा, पीसा, सुखाया, नाना क्लेश पाये। कीड़ा मकौड़ा, पशु-पक्षी आदिकी पर्यायें प्राप्त हुईं तो उनकी दुर्गतियों कौन नहीं जानता। कभी ऐसे भी किसी पशुको गाड़ीमें जुता हु देखा होगा जिसका कंधा सूजा हुआ है, वहांसे खून टपक रहा फिर भी बुग्गीमें जुता है, उसपर बहुत बड़ा बोझा लोगोंने ल हुआ है। उस जुते हुएको पीटते जा रहे हैं। यदि अधिक बो वजहसे वह पशु बैठ जाय, उठ न पाये तो लोग उसे डंडोंसे है। बादमें जब कामदार न रहा तो उसे लोग कसाईको दे देते

है। जो अवस्थित है उस ही में तो उत्पाद और व्यय चलेगा। इससे हमको यह प्रेरणा मिलती है कि हम जगतमें दूसरे पदार्थका कुछ काम नहीं करते और हम अपने आपमें ही अपने अज्ञान और दुःखमयी अवस्थाको विलीन करके ज्ञानमय वैराग्यमय अवस्थाको रच सकते हैं। हम वहीके वही हैं जो अनादिसे ये निगोदसे अब तक, हम कोई दूसरे नहीं हैं। पर्याय बदले, भव बदले, ढंग बदले, पर मैं वहीका वही हूं। ज्ञानकी ऐसी अभ्यस्त दशा हो जाय। आंखें खोलकर देखें तो तुरन्त चित्रण हो जाय कि यह पदार्थ इतना ही है और यह अपनेमें ही अपनी क्रियायें करता जा रहा है, दूसरेका कुछ नहीं करता। हमें तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना है।

तत्त्वज्ञानके बलसे कषायमालिन्य हटकर पवित्रताका अभ्युदय—तत्त्वज्ञानके प्रसादसे क्रोध, मान, माया लोभ आदिक कषायें शिथिल होती हैं। किसीपर क्या क्रोध करना, कोई मेरा बैरी नहीं है। जिस किसी भी जीवने मेरे प्रति कोई भी विरुद्ध बर्ताव किया हो उसने मेरे विरोधमें कुछ नहीं किया, किन्तु अपने आपकी कषायोंको शान्त करनेके लिए ही अपने आपमें परिणमन किया। वह जीव मेरा विरोधी नहीं। स्वरूपदृष्टिसे देखने वाले पुरुषकी कला निहारो, जिस कलाके बलपर वह सुखी है। उसका मान कषाय शिथिल हो जाता है। यहां किनमें मान चाहना। यहां किसीने अपमान किया तो उसने मेरेमें क्या किया? उसने तो अपनेमें अपना ही परिणमन किया। ज्ञानी पुरुषमें मायाचार भी नहीं जगता। वह तो जानता है कि जगतका कोई भी पदार्थ मेरा रक्षक नहीं है तो फिर मैं क्यों व्यर्थमें किसी पदार्थके अर्थ छल, कपट आदि करूं। लोभ कषायका भी वह ज्ञानी पुरुष त्याग कर देता है, लोभके नष्ट होनेसे आत्मामें वास्तविक पवित्रता जगती है। इसीलिए लोभत्यागको शौचधर्म कहा है। शौच मायने पवित्रता। ज्ञान जगे, वैराग्य जगे, कषायें शिथिल हों, विकल्प

हटें, अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि बने, ऐसी अपने आपकी दुनिया बने तो उस वैभवका मुकाबला जगतमें कहीं अन्य पदार्थसे नहीं किया जा सकता है। सहाय होगा तो, यही तो सहाय होगा, ऐसा जानकर इस ज्ञान और वैराग्यके लिए अपने जीवनको लगायें तो इसमें अपना भला है।

अपने स्वरूपके यथार्थ निर्णयमें आत्मकल्याणकी निहितता—मैं क्या हूं, कबसे हूं, कब तक रहूंगा, क्या करता रहता हूं? इन चार प्रश्नोंका उत्तर हो जाय सही तो उसका कल्याण है। भीतरकी लगन सहित उत्तर हो जाय कि मैं क्या हूं? मैं एक चैतन्य पदार्थ हूं, अमूर्त प्रतिभासमात्र हूं, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित केवल ज्ञाता द्रष्टा एक पदार्थ हूं। मेरा यहां अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। इस अमूर्त मुझका दूसरा कौन क्या होगा? कबसे हूं? अनादिसे हूं। रुलता चला आया हूं। रुलते-रुलते आज जो उत्कृष्ट मनुष्यभव पाया उसकी महिमा बतायी भी नहीं जा सकती। किसी चीजका मूल्य तब विदित होता है जब उसके सामने नकली खराब चीज और पड़ी हों। इस मनुष्यभवका मूल्य तब समझा जा सकता है जब कि संसारकी अनेक दुर्गतियोंका भी विचार करें। निगोद जैसी दशा मिली, जिसमें एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म-मरण किया। पेड़, फल, फूल आदि हुए तो तोड़ा सुखाया, छेदा, पीसा, सुखाया, नाना क्लेश पाये। कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदिकी पर्यायें प्राप्त हुईं तो उनकी दुर्गतियोंको कौन नहीं जानता। कभी ऐसे भी किसी पशुको गाड़ीमें जुता हुआ देखा होगा जिसका कंधा सूजा हुआ है, वहांसे खून टपक रहा है, फिर भी बुग्गीमें जुता है, उसपर बहुत बड़ा बोझा लोगोंने लादा हुआ है। उस जुते हुएको पीटते जा रहे हैं। यदि अधिक बोझकी वजहसे वह पशु बैठ जाय, उठ न पाये तो लोग उसे डंडोंसे पीटते हैं। बादमें जब कामदार न रहा तो उसे लोग कसाईको दे देते हैं।

आज बेटा हम भोजन सामग्री लायो। उसे रास्तेमें एक मंदिर मिला तो उसने क्या किया कि १०) मे कटोरा, घी, बत्ती आदि खरीदा और मंदिरमें जाकर पूजन आरती ध्यान करने लगा। भक्ति करते-करते बहुत समय होगया तो वहांके अधिष्ठाता देवने सोचा कि यह तो पूजनमें लीन है, इसके घरके सभी लोग भूखे बैठे है, सो यह सोचकर उस पुजारी लड़के जैसा ही उस देवने अपना रूप बनाया और कई गाड़ियोंमें बहुतसा सामान लादकर उसके पिताके पास पहुंचा दिया। सभीने खूब भोजन किया और नगरके बहुतसे लोगोंको भी भोजन कराया। बादमें वह पुजारी लड़का पूजन करके निपटा और बहुत पछताने लगा कि हम तो आज पूजन करनेमें लीन होगए, हमारे घर वाले सभी लोग आज भूखे रह गए। सो जल्दी ही अपने परिजनोंके पास जाकर पितासे कहा—पिताजी आज हमसे बहुत गल्ती हुई, हम तो पूजा-पाठ करनेमें लग गए। समयका कुछ ध्यान भी न रहा और आप सभी लोग आज भूखे रह गए होंगे। उसकी बातको सुनकर पिताको आश्चर्य हुआ। लड़के लोग भी आश्चर्यमें पड़ गए कि देखो इसीने तो बहुत गाड़ी सामान यहां लाकर डाला और यही इस तरह कहता है। सबने समझ लिया कि वह देव ही कोई आया था। बादमें पिता अपने बड़े लड़केसे कहता है—कहो बेटा तुम्हारा भाग्य कितना है? बोला १) का। और, जुवारी लड़केका? हमसे १० गुना। और, अंधे लड़केका? हमसे हजारों गुना। और, पुजारी [illegible] ना ही क्या? जिसको [illegible] अहंकारपर पछतावा [illegible]। सबके साथ उनका अपना-अपना भाग्य लगा है।

स्वमें श्रद्धान ज्ञानकी मगन होनेसे स्वरमणकी भवितव्यमें निश्चितता—मैं जगका करता क्या काम? मैं अमूर्त प्रतिभासमात्र यह चेतन

मोहीने। जीव गंदा नहीं, पर जीवमें जो मोहभाव है वह गंदा है। तो समस्त गंदगीकी जड़ क्या निकली ? मोह। रागद्वेष विकार भी गंदा भाव है, पर उनको पुष्ट करने वाला है मोहभाव। तो यह विकार ही वास्तवमें अपवित्र है।

परकृत परिणामकी अध्रुवता—स्वभाव और परभावमें अन्तर तकिये। स्वभाव शाश्वत रहता है, ध्रुव है, कभी धोखा नहीं दे सकता। हम स्वभावकी शरणमें न जायें यह हमारी भूल है, पर शरणभूतस्वभाव तो शाश्वत अन्तः प्रकाशमान है, लेकिन ये परभाव कर्मोदयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए, दूसरे क्षण नहीं रहते। चूंकि यह जीव इस समय अपवित्र है इसलिए विकारके बाद विकार आते रहते हैं, पर जो विकार हुआ वह दूसरे क्षण नहीं ठहरता, वह अध्रुव है। मोही जीव मोहकी वेदनाके वश होकर इलाज समझता है मोह करनेको ही, और यही हो रहा है संसारमें। कषायकी वेदनासे होता है जीवोंको क्लेश और उस क्लेशके मेटनेका उपाय समझते हैं कषाय करना ही। अरे ये विकार भाव अशरण हैं। इनकी शरण गहना मोहांधकारमें ही सम्भव है। विकार मेरा स्वरूप नहीं। एक यह चैतन्यस्वरूप ही मेरा है। इन परभावोंके प्रसंगमें इन विकारोंके संगमें, अशरण्य विकारके विषयभूत विषयोंके स्यासंगमें मेरा गुजारा नहीं चल सकता।

दूर हटो परकृत परिणाम—लोकमें मेरा कौन ? जब चनिष्ट दुग्धा-मिला यह शरीर भी हमारा साथी बनकर नहीं रह सकता तब फिर अन्य प्रकट भिन्न परपदार्थ मेरे साथी कैसे बन सकेंगे ? तो स्वभाव और परभावके अन्तरका अध्ययन करना यही है सच्चा अध्ययन और विभावसे हटकर स्वभावमें लगना यही है सच्चा कार्य। तो यह अन्तस्तत्त्वका रसिया ज्ञानी संत स्वभाव विभावका भेद जानकर विभावोंकी उपेक्षा करके स्वभावमन्दिरमें लगता है। और स्वभाव-

भक्तिमें रहते-रहते स्थिरता न हो पानेसे जब अलग होता है तो वह बड़ा क्लेश मानता है। जब आत्मभक्तिमें स्थिर न होनेसे स्वसे हटता है तब इतना खेद मानता है कि कहां तो उस निराकुल ज्ञानामृतका स्वाद लिया जा रहा था, बड़ी निराकुल दशा थी और अब वहांसे हटकर परभावोंमें आकर कहां यह दुर्दशा, अंत: आवाज निकलती है—ओह! दूर हटो परकृत परिणाम। मैं दुःखी होगया, हैरान होगया, बरबाद होगया। ऐ परकृत परिणाम! तुम दूर हटो, मुझे मेरे अमूर्त धाममें पहुंचने दो, जहां मैं अभी निकटमें था।

विभावके नियामकत्वकी मीमांसा—इन विकारोंको परकृत परिणाम कहते हैं। इन विकारोंका यद्यपि अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव आत्मासे है अर्थात् ये रागादिक भाव आत्मामें समाये हुए हैं और इनमें आत्मा समाया हुआ है, लेकिन इनका निर्माणनियम अन्तर्व्याप्यव्यापक भावसे नहीं है। निर्माणनियम वहीं हो सकता है जहां यह अन्वय व्यतिरेक हो कि जिसके होनेपर विकार हो, जिसके न होनेपर विकार न हो। यह नियम तो बहिर्व्याप्यव्यापकभावमें सम्भव है। बहिर्व्याप्यव्यापकका मतलब यह है कि जिसके साथ सम्बंध बन रहा है वह तो है अलग और ये नैमित्तिक रागादिकभाव हैं अलग। पृथक् भिन्न-भिन्न दो पदार्थ हुए हैं, वहां व्याप्य व्यापक सम्बंध है। तो ऐसा नहीं कह सकते कि आत्माके होनेपर रागादिक हों और न होनेपर न हों। यह तो चेतुकी बात है। जब आत्मा हो तब रागादिक हों यह नियम तो नहीं। पर कर्मविपाकके साथ इन रागादिकका अन्वय व्यतिरेक है। देखिये—ज्ञानवीर वही होगा जो निमित्त नैमित्तिक सम्बंधको भी यथार्थ जानता हो एवं वस्तुस्वरूपकी स्वतंत्रताको भी समझता हो। वस्तुस्वातंत्र्यका घात हो जायगा इसलिए निमित्तको कुछ मत मानो। अरे निमित्तको कुछ न मानोगे, उसकी जो सन्निधि है उसका अपेक्षण न मानोगे, उस प्रसंगमें तो यहां बड़ी ।

अब मेरे समझ हुई। अब तुम यह धाम छोड़ो, मुझे अपने आपके आनन्दधामका आनन्द लेने दो। ऐ रागादिक भावो! तुम अनादि कालसे अभी तक इस मुझ आनन्दधाममें बसे हुए हो, अब तुम दूर हटो। मैं अब अनन्त भविष्यकाल तक यहां आनन्दसे रहूंगा। ज्ञानी पुरुष आगाह करके, घोषणा करके इन रागादिक भावोंपर विजय कर रहा है, रागादिक भावोंका विनाश कर रहा है। भले ही इन रागादिक विकारोंने बिना कुछ आगाह किये हमपर अब तक आक्रमण किए रहे, पर ऐ रागादिक विकारो, अब तुम दूर हटो, यों ज्ञानी पुरुष आगाह करके इन रागादिक भावोंपर विजय प्राप्त कर रहा है। जब कोई दर्शक, पूजक अथवा उपासक पुरुष मंदिरमें आता है तो मंदिरमें प्रवेश करते समय वह नि सही, नि सही शब्दोंका उच्चारण करता है। उसका भाव क्या है कि ऐ रागादिक भावो! बहुत काल तक या दिनमें भी देखो २३ साढ़े २३ घंटे तुम हमपर सवार रहे, अब हम वीतराग प्रभुके मंदिरमें जा रहे हैं, वहां तुम्हारी दाल न गल सकेगी। वहाँ वीतराग प्रभुकी मुद्रा दर्शनमें आयगी। स्तवन आदिक द्वारा वीतराग भाव दृष्टिमें रहेगा, वहां तुम्हारी दाल न गल सकेगी। तुम मेरे बड़े साथी रहे इसलिए हमारा कर्तव्य था कि तुमको आगाह करदें, कहीं बिना पतेमें तुम्हारी दुर्गति न हो, इसलिए धीरेसे तुम भागो, हम प्रभुदर्शनको जा रहे हैं। यह ज्ञानी संत इन रागादिक भावोंको ठीक ठीक सकझाकर कह रहा है कि दूर हटो परकृत परिणाम!

परकृति परिणामकी हैरानी—इस परकृतको परकृति कहकर भी कुछ समझ आयगी और परकृति परिणाम बताकर भी इससे कुछ अध्ययन मिलता है, परपदार्थमें कर्तृत्व करनेका जो परिणाम है, कुछ करनेका परिणाम है, जो कर्तृत्व परिणाम है सो दूर हटो। जीव अब तक परपदार्थमें कर्तृत्व बुद्धि लगाकर आकुलित होते चले आये हैं। अजी, अभी यह धाम और यहां है बस इतनी ही देर...

कोठेमें सर्प बना। वहां भी नारद पहुंचे और साथ चलनेके लिए कहा—तो वह सर्प अपना फन हिलाकर कहता है कि हम कैसे आपके साथ चलें? हम तो इस धनकी रक्षाके लिए ही यहां पैदा हुए हैं। तो नारदने विष्णुके पास जाकर कहा कि नाथ! आप सच कहते थे कि यहां कोई आनेको तैयार ही नहीं होता। तो क्या है, वह सब परकृति परिणमोंका जाल है। अभी मेरे करनेको यह पड़ा हुआ है; यह अधूरा काम है, इस प्रकारकी बात सब जीवोंके मनमें है।

सहजानन्दमय रहनेकी भावना—भैया! यहां कोई भी काम अधूरा नहीं होता है। जिस पदार्थका जिस क्षण जो परिणमन होता है वह पूर्ण होता है, इस रहस्यको न जानकर सब जीव परेशान हैं। अरे मेरे करनेको बाहरमें रखा ही क्या है? सर्व परपदार्थ स्वतंत्र हैं, परिपूर्ण हैं, यों जानकर परकृति परिणाम जब दूर हो जाते हैं तब शान्ति प्राप्त होती है। सो यह अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत पुरुष कह रहा है कि दूर हटो परकृत परिणाम। रे समस्त परभावो! तुम दूर हटो। अच्छा, हम तो दूर हो जायेंगे फिर आपका समय कैसे व्यतीत होगा? अभी तो हम रागकी बातें लगाकर, कामके बहाने लगाकर, तुमको व्यस्त रखते हैं, अब हमको हटा दोगे तो बतलावो तुम फिर क्या करोगे, कैसे रहोगे? हम तो तुमपर दया करके लदे हुए हैं। तो कहते हैं कि दूर हटो परकृत परिणाम। सहजानन्द रहूं अभिराम। मैं क्या करूंगा, कैसे रहूंगा सो सुनो—मैं सहज आनन्दस्वरूप रहूंगा। मेरा स्वरूप ही है यह आनन्द, और वह है सहज। सहज कहते हैं उसे जो "सह जायते इति सहजं", जो साथ ही उत्पन्न होता है। जबसे मैं हूं, जबसे जो हो मेरे साथ वह है मेरा सहज भाव। सहजका लोग आसान अर्थ करते हैं, सुगम अर्थ करते हैं। सहजका असली रूप आसान नहीं है, किन्तु सहज आसान हुआ करता है। जो-जो सहज होता है वह आसान हुआ करता है। इसलिए लोगोंने

ुडका अर्थ आसान कर लिया। सहज कहते हैं उसे कि द्रव्यके
वसे लेकर सत्व तक जो भाव रहे। वह है ज्ञानदर्शनकी भांति
नन्द भी। मैं सहज आनन्दस्वरूप रहूंगा।

अभिराम आनन्दमय रहनेका विनिश्चय—कहां रहोगे? वह जगह
तो बतलावो। इस दुनियामें जितनी जगह है सबपर हमारा याने
जालका अधिकार है। रागभाव, विकारभाव पूछ रहे हैं कि कहां
रहोगे? मैं रहूंगा सहज आनन्दस्वरूपमें याने अभिराम। राम मायने
आत्मा। उस आत्माके सर्वप्रदेशोंमें। हमें लोगकी जगह न चाहिए।
जहां रहे रहे, जहां न रहे न रहे, ये लोग मुझे भगादें तो भगादें, पर
भगा न सकें यह बात अलग है। मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि मैं कहां
रहूंगा! मैं रहता ही कहां हूं? जब विकार उदित हो रहे तब भी मैं
बाहर नहीं रह रहा। अपने ही स्वरूपमें रहता हुआ विकृत हो रहा
हूं, और फिर विकार भावके हटनेपर तो स्वतंत्रतया सहजभावसे
सुगमतया, दृढ़ताके साथ अनन्तकाल तक अपने आपमें रहूंगा।

आत्मोपासनाका अन्तः प्रभाव—आत्माका लक्षण जानकर, आत्म-
कल्याणकी आवश्यकता जानकर इस कल्याणकी सुगमता समझकर
आत्माकी निरन्तर भावना की इस ज्ञानी पुरुषने और उस आत्माकी
दृढ़ अभेद उपासनाके प्रतापसे अब वह स्थिति प्राप्त की अथवा निकट
भविष्यमें प्राप्त करेगा। सर्व परभावोंसे जहां निवृत्त होनेकी बात कही
वहां शरीर और कर्मोंकी निवृत्ति होनेकी बात तो स्वयं ही आ गई।
यों शरीर, कर्म, विकार इनसे रहित होकर केवल मैं आत्माराम रहूं
और अपने आपके सर्वप्रदेशोंमें सहज आनन्दस्वरूप रहूं। इसके लिए
अहर्निश यह भावना चाहिए जैसा कि मैं हूं, अपने आपके ही आधीन
हूं। अपने आपके स्वरूपसे कभी चलायमान होने वाला नहीं हूं,
निश्चल हूं। समस्त विकारोंसे रहित रहनेके स्वभाव वाला निष्काम
सदा ज्ञानदर्शनकी परिणति रखने वाला जानन देखनहार ऐसा
स्वतंत्र निश्चल, निष्काम ज्ञाताद्रष्टा ८

॥ परमात्म-आरती ॥

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥
ॐ जय जय अविकारी ॥टेक॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरसमुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ॐ...॥१॥

हे स्वभावमय जिन तुम चीनो, भव संतति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपत भारी ॥ ॐ ...॥२॥

परसम्बन्ध बन्ध दुखकारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन, चहुंगति दुखहारी ॥ॐ...॥३॥

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमनसञ्चारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुणभंडारी ॥ॐ...॥४॥

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शान्तिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबलबलधारी ॥ॐ...॥५॥

(उक्त आरतीमें परम ब्रह्म कारण परमात्मा व कर्ममुक्त कार्य परमात्मा, दोनोंकी उपासना है, अतः गृहस्थ व साधु सभी इस आरतीका पाठ कर